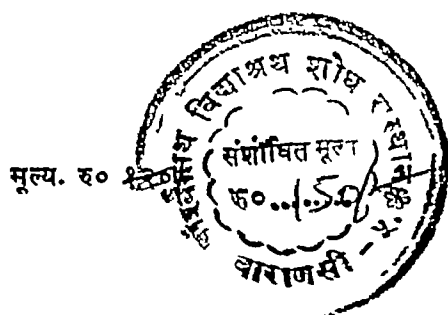


भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्ति

प्रकाशक एव प्राप्ति-स्थान
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी-२२१००५

प्रकाशन-वर्ष
१९८१



मुद्रक
पाठ—तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमलछा, वाराणसी
चित्र—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी

प्रकाशकीय

जैन प्रतिमाविज्ञान पर हिन्दी भाषा में अद्यावधि दो-तीन लघुकाय कृतियां ही प्रकाशित हुई हैं। डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी की यह विशालकाय कृति न केवल गवेषणापूर्ण अध्ययन पर आधारित है, अपितु विषय को काफी गहराई से एवं व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है। आशा है विद्वत् जगत् में इस कृति को समुचित स्थान प्राप्त होगा।

भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में जैन प्रतिमाओं का ऐतिहासिकता एवं कला-पक्ष दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन प्रतिमाविज्ञान में जिन प्रतिमाओं के साथ-साथ यक्ष-यक्षी युगलो, विद्यादेवियों और सरस्वती आदि की प्रतिमाओं का भी विशिष्ट स्थान रहा है। डॉ० तिवारी ने इन सबको अपने ग्रन्थ में समाहित किया है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी पार्श्वनाथ विद्याश्रम के शोध छात्र रहे हैं और उनको अपने शोध-प्रबन्ध 'उत्तर भारत में जैन प्रतिमाविज्ञान' पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा ई० सन् १९७७ में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। प्रस्तुत कृति उनकी उक्त गवेषणा का सशोधित रूप है जिसको प्रकाशित कर पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए मुझे अति प्रसन्नता हो रही है।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली एवं जीवन जगन् चैरिटेबल ट्रस्ट, फरीदाबाद ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, इस हेतु मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। इस सहायता के कारण ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। मैं लालमाई दलपतमाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, जैन जनल, कलकत्ता तथा भारत कला भवन, वाराणसी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु कुछ चित्रों के ब्लाक्स उपलब्ध कराकर सहयोग प्रदान किया है।

मैं संस्थान के निदेशक, डॉ० सागरमल जैन, डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी एवं डॉ० हरिहर सिंह का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रूफरीडिंग सम्बन्धी उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर इस प्रकाशन को सम्भव बनाया है।

अन्त में मैं संस्थान के मानद मन्त्री माई भूपेन्द्रनाथ के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनके प्रयत्नों के कारण ही संस्थान के प्रकाशन कार्यों में अपेक्षित प्रगति हो रही है।

शादीलाल जैन

अध्यक्ष

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

जयपुर

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-२२१००५

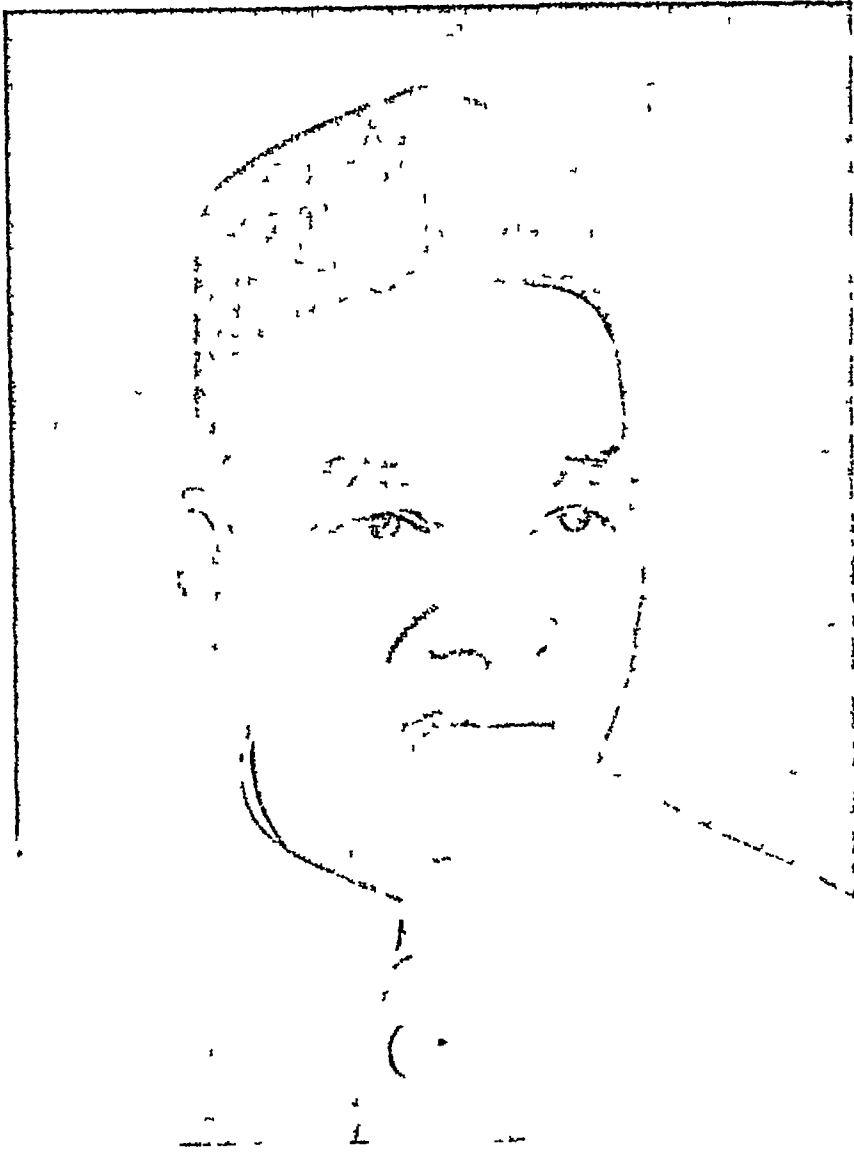
दुर्बलता नहीं रहती, अतः वे कल्याण का उपदेश देकर असंख्य प्राणियों के जीवन को धर्ममय बनाने में सफल होते हैं। दूसरा उपाय है दण्ड द्वारा लोक जीवन को अधर्म से विमुक्त करना। ऐसे व्यक्ति लोकनायक कहलाते हैं। इन लोकनायकों में मुख्य चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्र होते हैं। पहला उपाय सृजनात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहला उपाय है—अधार्मिकों के जीवन में से अधर्म दूर करके उन्हें धार्मिक बनाना अर्थात् हृदय परिवर्तन द्वारा धर्म की स्थापना जब कि दूसरा उपाय है—अधर्मियों और दुष्टों को दण्ड भय द्वारा अधर्माचरण और दुष्टता में रोकना। न मानने पर उन्हें दण्डित करना। हृदय परिवर्तन का प्रभाव स्थाई होता है। प्राणी का कल्याण हृदय-परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है, जब कि दण्ड केवल भय उत्पन्न करके अस्थायी रूप से दुष्टता का निवारण कर सकता है। इसलिये धर्म नायक तीर्थकरो की मान्यता और प्रभाव सर्वोपरि है।

इन धर्मनायकों का इतिहास पुराणों और कथा ग्रन्थों में सुरक्षित है किन्तु लोक भाषा में एक ही ग्रन्थ में सब नायकों का इतिहास नहीं मिलता। इसलिये ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है, जिसमें सरल भाषा और सुबोध शैली में इन धर्मनायकों और लोकनायकों का इतिहास हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ-निर्माण का इतिहास

उपर्युक्त आवश्यकता के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' की संयोजना की गई है। इस संयोजना के सूत्रधार पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज रहे हैं। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया जाय, जिसमें तीर्थकरो का पावन चरित्र गुम्फित हो। साथ ही जिसमें चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और प्रतिनारायणों का भी चरित्र हो। उन्होंने अपनी यह इच्छा मुझे पर व्यक्त की और यह कार्य भार लेने के लिये मुझे आदेश दिया। मैं आजकल 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थों का इतिहास' तैयार करने में व्यस्त हूँ, जो भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान में भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की ओर से पाँच भागों में तैयार हो रहा है। इस व्यस्तता के कारण मैंने विनम्रतापूर्वक आचार्य महाराज से अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। किन्तु आचार्य महाराज ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता और उपयोगिता का तीव्रता से अनुभव कर रहे थे। उन्होंने स्वनामधन्य साहू शान्ति प्रसाद जी से अपनी यह इच्छा व्यक्त की। साथ ही उन्होंने यह दायित्व मुझे सौंपने का आग्रह किया। मान्य साहू जी भी ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता से सहमत थे। अतः उन्होंने मुझमें यह दायित्व स्वीकार करने की प्रेरणा की। मैं इस दायित्व की गुरुता का अनुभव कर रहा था। किन्तु मैं इन सम्माननीय और कृपालु महानुभावों की आज्ञा की उपेक्षा करने का साहस न कर सका और मैंने बड़े सकोच के साथ यह दायित्व ओढ़ लिया।

तभी मैंने विचार किया कि यदि त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र की तरह भगवान् महावीर की परम्परा के दिगम्बर जैन आचार्यों, भट्टारकों, कवियों और लेखकों का भी इतिहास तैयार किया जा सके तो भगवान् ऋषभदेव से लेकर अवतक का दिगम्बर जैन धर्म का यह एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण इतिहास हो जायगा। अब तक न तीर्थकरो आदि का चरित्र आधुनिक शैली में हिन्दी भाषा में लिखा गया और न आचार्यों के इतिहास से सम्बन्धित ही कोई ग्रन्थ लिखा गया। तीर्थकरो आदि के चरित्र प्राचीन पुराणों आदि में तो अवश्य गुम्फित मिलते हैं, किन्तु एक तो वे प्राकृत, संस्कृत या अपभ्रंश भाषा में हैं, दूसरे उनकी अपनी वर्णन शैली है, जिसमें कथाओं में अन्तर्गत कथाएँ, भव-भवान्तरो का निरूपण, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों के द्वारा चरित्र निरूपण और सिद्धान्तों और उपदेशों की बहुलता रहती है। आज का व्यस्त किन्तु जिज्ञासु पाठक सरल भाषा में संक्षेप में तीर्थकरो आदि का चरित्र पढ़ना चाहता है। इसी प्रकार जैन आचार्यों, भट्टारकों आदि के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थों की भूमिकाओं में परिचयात्मक सामग्री तो निकलती रही है, किन्तु संक्षेप आचार्यों आदि का परिचयात्मक इतिहास सम्बन्धी कोई एक ग्रन्थ अवतक प्रकाशित नहीं हुआ। श्वेताम्बर आचार्यों के सम्बन्ध में तो इस प्रकार के कई ग्रन्थ निकल चुके हैं, किन्तु दिगम्बर आचार्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक प्रगट नहीं हुआ।



जैन विद्या के निष्काम सेवक

एव

पार्श्वनाथ विद्याश्रम

के

मानद् मन्त्री

लाला हरजसरायजी

को

सादर समर्पित

भगवान की स्तुति करते हुए उनके तीर्थ को जन्म-मरण रूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए तर्पण-पथ बताया है।

तीर्थ के कर्ता तीर्थकर

तीर्थकर तीर्थ के कर्ता होते हैं। वे धर्म-तीर्थ की पुनः स्थापना करते हैं। तीर्थकर केवल चतुर्थ काल में ही उत्पन्न होते हैं। वही काल उनकी उत्पत्ति के अनुकूल होता है। एक अवर्गपिणो या उत्सर्पिणो काल में तीर्थकरों की संख्या २४ ही होती है। न इससे कम, न इससे अधिक। इन्हीं हम प्रकृति का नियम कह सकते हैं। वे किसी अव्यक्त शक्ति के अवतार नहीं होते। [जैन धर्म में ससार की उत्पत्ति, विनाश और संरक्षण करने वाली कोई ऐसी अव्यक्त शक्ति नहीं मानी है, जो ससार का संचालन करती हो। बल्कि ससार में जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक पद द्रव्य हैं, उनके अपने स्वभाव और कार्य-कारण भाव से ससार का उत्पाद, व्यवय और ध्रौव्य माना है। आधुनिक विज्ञान भी इस कार्य-कारण भाव को स्वीकार करता है।] तीर्थकर भी मनुष्य होते हैं, किन्तु सामान्य मनुष्यों से असाधारण होते हैं। उनमें वह असाधारणता तीर्थकर नाम कर्म के कारण होती है। तीर्थकर नाम का एक कर्म होता है। उस कर्म का बन्ध उस व्यक्ति को होता है, जिसने किसी तीर्थकर, केवली या श्रुतकेवली के पाद मूल में किसी जन्म में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया हो, दशम विमुक्ति आदि मोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो तथा भावना की हो कि मैं ससार के दुखी प्राणियों का दुख किस प्रकार दूर करूँ। ऐसी उच्च भावना और आशय वाले व्यक्ति को तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध होता है। तीर्थकर नामक कर्म प्रकृति महान पुण्य का फल होती है। इसलिये शास्त्रों में इस कर्म प्रकृति के लिये कहा गया है-‘पुण्य फला अरहन्ता’। इस महान पुण्य फल वाली तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करके वह व्यक्ति किसी जन्म में तीर्थकर बनता है। तीर्थकर केवल क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होता है। [चूँकि तीर्थकर असाधारण पुण्य सचय करके उत्पन्न होते हैं, इसलिए असाधारण पुण्य के फलस्वरूप उन्हें असाधारण सासारिक लक्ष्मी प्राप्त होती है। उनके असाधारण पुण्य का ही यह फल है कि इन्द्र, देव, मनुष्य और तिर्यच उनके चरणों के सेवक बन जाते हैं। उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण के अवसर पर इन्द्र और देव यहाँ आकर उनकी स्तुति करते हैं। और पाचो अवसरों पर, जिन्हें कल्याणक कहा जाता है, वे उत्सव मनाते हैं। वे अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये उनके गर्भ में आने से छह माह पूर्व से गर्भ काल अर्थात् पन्द्रह मास तक रत्न वर्षा करते हैं। केवल ज्ञान होने पर उनके लिए समवमरण को रचना करते हैं तथा विभिन्न अवसरों पर अपनी भक्ति का प्रदर्शन देवी रीति से करते हैं जो मनुष्य लोक को विस्मयकारी और अद्भुत प्रतीत होता है।]

[विदेह क्षेत्र में भरत क्षेत्र से भिन्न प्राकृतिक नियम हैं। वहाँ चौबीस नहीं, बीस तीर्थकर होते हैं और सदा बीस ही विद्यमान रहते हैं। उनके जो नाम समझे जाते हैं, उन्हीं नामों से तीर्थकर के निर्वाण होने पर दूसरा तीर्थकर उस स्थान की पूर्ति कर देता है। वहाँ पाच कल्याणकों का भी नियम नहीं है। वहाँ किसी तीर्थकर के पाच कल्याणक होते हैं, किसी के कम। कम से कम दो कल्याणक अवश्य होते हैं-केवल ज्ञान और निर्वाण कल्याणक]।

इस भरत क्षेत्र के २४ तीर्थकरों में ५ तीर्थकरों ने विवाह नहीं किया था। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। उनके नाम हैं-वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर। दिगम्बर परम्परा में ऐसी ही मान्यता है। [श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम ग्रन्थों की मान्यता भी इसी प्रकार है, किन्तु ‘कल्पसूत्र’ के काल से इससे भिन्न मान्यता का प्रचलन प्रारम्भ हो गया। उसके पश्चात्कालीन श्वेताम्बर आचार्यों ने भी उसी मान्यता का अनुकरण किया। किन्तु उनमें भी मत-विभिन्नता उपलब्ध होती है। वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ अविवाहित रहे तथा महावीर ने विवाह किया, इस विषय में उन आचार्यों में ऐकमत्य पाया जाता है। किन्तु पार्श्वनाथ के विवाह के सम्बन्ध में उनमें भी मतभेद है, यहाँ तक कि हेमचन्द्राचार्य ने त्रिपिट शलाका पुरुष चरित्र में एक स्थान पर पार्श्वनाथ को विवाहित लिखा है और दूसरे स्थान पर उन्हें अविवाहित घोषित किया है। लगता है,

हेमचन्द्र को पार्ष्वनाथ के विवाहित होने का कल्पना मची नहीं। कल्पमृत्कार और उसका अनुसरण करने वाले आचार्यों को प्राचीन परम्परागत मान्यता के विरुद्ध महावीर आदि को विवाहित होने की नवीन कल्पना क्यों करने पड़ी, यह अवश्य अनुसन्धान का विषय है। संभवतः उन्हें इस विषय में बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित बुद्ध चरित्र अनुकरणीय प्रतीत हुआ हो।

द्वितीय प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में महावीर का आह्वणी देवानन्दा के गर्भ में आना, फिर इन्द्र की आज्ञा में नैगमेयी देव द्वारा उस गर्भस्थ शिशु को त्रिशला के उदर में पहुँचाना विज्ञान की लाख दुहाई देने पर भी बुद्धि को भ्रमना नहीं है। श्वेताम्बर विद्वान् प० सुगलाल जी मधर्मा इस कल्पना को कृष्ण के गर्भपरिवर्तन की कल्पना का अनुकरण मानते हैं।

दिगम्बर परम्परा में यह मान्यता है कि तीर्थंकर दीक्षा लेने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक अर्थात् छद्मस्थ काल में मोन रहते हैं। किन्तु श्वेताम्बर मान्यता ऐसी नहीं है। वहाँ महावीर को छद्मस्थ काल में चण्डकौशिक सप्रेम को उपदेश देते हुए बताया है।

इन मान्यता - भेदों का उत्प्रेषण इसलिये किया गया है जिसमें तीर्थंकरों के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की एकस्यता दृष्टि में आ सके। प्रस्तुत ग्रन्थ में, तीर्थंकरों के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में जहाँ मान्यता भेद है, उसका निष्पक्ष दृष्टि में उल्लेख किया गया है।

प्रत्येक तीर्थंकर के मुनि सघ में सात प्रकार के सघ होते हैं—पूर्वघर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धिधारी, निपुण गति और वादी। इसी सघ के आधार पर प्रत्येक तीर्थंकर के मुनियों की संख्या इस ग्रन्थ में दी गई है।

एक तीर्थंकर का तीर्थकाल आगामी तीर्थंकर के तीर्थ स्थापन तक रहता है। इस प्रकार धर्म की परम्परा अविच्छिन्न रूप में चलती रहती है। किन्तु इस ढुण्डावमणिणी के काल-दोष से सात काल ऐसे आये, जब धर्म की व्युत्पत्ति हो गयी। ये सात समय सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ और धर्मेनाथ के तीर्थकाल में आये। दोष तीर्थंकरों के काल में धर्म की परम्परा निरन्तर चलती रही। इसका कारण यह था कि उम समय किमी ने दीक्षा नहीं ली थी। उक्त सात तीर्थों में क्रम से पावपत्य, अर्द्धपत्य, पीनपत्य, पत्य, पीन पत्य, पत्य, और पाव पत्य प्रमाण धर्म-तीर्थ का उच्छेद रहा।

अन्तिम निवेदन और आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ समय की आवश्यकता का परिणाम है। समाज में बहुत समय से इस आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था। यह आवश्यकता थी-तीर्थंकरों का चरित्र पौराणिक शैली से उबार कर आधुनिक परिप्रेक्ष्य, भाषा और शैली में निबद्ध किया जाय किन्तु शैली बदलने पर भी उसके मूल रूप अर्थात् मौलिक चरित्र को और विशेषताओं को सुरक्षित रखा जाय। इसके साथ-साथ यदि उनके व्यक्तित्व का समर्थन जैनेतर ग्रन्थों, इतिहास और पुरातत्व से किया जा सके तो किया जाए। ऐसे चरित्र-ग्रन्थ से तीर्थंकरों का सही परिचय पाठकों को मिल सकेगा।

परम पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता बताते हुए मुझे इसे तैयार करने का अवसर प्रदान किया। इस कृपा के लिए मैं पूज्य आचार्य श्री का ऋणी हूँ। जो कुछ भी और जिस रूप में भी यह ग्रन्थ तैयार हो सका है, वह सब आचार्यश्री के आशीर्वाद का परिणाम है। उन्होंने न केवल मुझे यह अवसर प्रदान किया, बल्कि उन्हीं की कृपा से इसके प्रकाशन के सब साधन जुट सके। आचार्यश्री की मेरे ऊपर सदा से कृपा रही है। यह मेरी परम सौभाग्य है। उनके चरणों में मेरी बार-बार नमोज़दु।

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में—

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में एक आवश्यकता की पूर्ति हुई। अनेक जैनजैन मंत्री पुरूप चौबीस तीर्थंकरों का सरल भाषा में इतिहास जानना चाहते थे, इस ग्रन्थ में उनकी इच्छा की पूर्ति हुई। मैंने अनेक जैन मन्दिरों में मंत्री-पुरुषों को इसका स्वाध्याय करते हुए देखा। यह अनेक घरों में पढ़ा जाता है। वास्तव में यह अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है। इसकी लोकप्रियता देखकर कई लोगों ने 'जैनतीर्थंकरों का इतिहास' नाम से पुस्तकें छाप दी हैं, जिनमें शब्दशः या भावशः इस ग्रन्थ की नकल की गई है। कई लोगों ने जैन रामायण और जैन महाभारत नाम से इस ग्रन्थ से सामग्री लेकर परम्परा प्रकाशन कर दी है। यह इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का ही प्रमाण है।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण समाप्त हो चुका है। और इसकी माग निरन्तर बनी हुई है। इसका प्रथम संस्करण लाला केशरीचन्द श्रीचन्द जैन चावल वाले दिल्ली के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हुआ था। इसकी लोकप्रियता को देखकर आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी के परम भक्त, धर्मानुरागी लाला राजेन्द्र कुमार जी जैन (कम्मोजी) की भावना इसे पुनः प्रकाशित करने की हुई। उन्होंने इसके लिये मेरी सहमति चाही। मैंने प्रचार की दृष्टि से सर्वप्रथम अपनी सहमति प्रदान कर दी। फलतः स्वनाम धन्य लालाजी इसे प्रकाशित कर रहे हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रथम संस्करण के समान इस संस्करण को भी लोकप्रियता प्राप्त होगी।

कुन्दकुन्द भारती
18 वीं स्पेशल इन्स्टीच्यूशनल एरिया
नई दिल्ली-110 067

बलभद्र जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद		
१ जैनधर्म विश्व का अनादि सत्य आत्मा का शाश्वत रूप आत्मा और अनात्म का चिरकालिक सघर्ष अनात्म पर आत्म-विजय की राह आत्म विजय के पुरस्कर्त्ता-जिन जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैनधर्म है प्राचीन साहित्य में जैन धर्म का नामोल्लेख भारतीय सस्कृति की दो धाराएँ—श्रमण और वैदिक श्रमण सस्कृति व्रात्य आर्हत पुरातत्त्व और प्राग्वैदिक सस्कृति	१—१२	मानव की आद्य सस्कृति प्रकृति-परिवर्तन कुलकर अन्तिम कुलकर नाभिराज नाभिराज द्वारा युग-प्रवर्तन
२ जैनधर्म में तीर्थंकर-मान्यता पंच परमेष्ठी तीर्थंकर धर्म नेता है, धर्म-संस्थापक नहीं जैनधर्म में अवतारवाद नहीं है तीर्थंकरों के नाम तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य— वश, वर्ण, विवाह	१३—१६	२ भगवान् ऋषभदेव का जन्म देवों द्वारा अयोध्या की रचना नाभिराज की पत्नी मरुदेवी मरुदेवी का स्वप्न दर्शन भगवान् का गर्भावतरण भगवान् का जन्म-महोत्सव इन्द्र द्वारा आनन्द नाटक भगवान् का नामकरण
३ तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि मूर्ति-निर्माण का इतिहास जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास तीर्थंकरों के चिन्ह जैन प्रतीकों का परिचय	१७—२६	३ बाल्य काल भगवान् का दिव्य लालन पालन भगवान् की बाल क्रीड़ाएँ जन्म के दस अतिशय
४ तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि मूर्ति-निर्माण का इतिहास जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास तीर्थंकरों के चिन्ह जैन प्रतीकों का परिचय	१७—२६	४ भगवान् गृहस्थाश्रम में भगवान् का विवाह पुत्र पुत्रियों का जन्म भगवान् के सौ पुत्र लिपि और अक्षर विद्या का आविष्कार पुत्रों को विविध कलाओं का प्रशिक्षण
५ तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि मूर्ति-निर्माण का इतिहास जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास तीर्थंकरों के चिन्ह जैन प्रतीकों का परिचय	१७—२६	५ ऋषभदेव द्वारा लोक-व्यवस्था वन्य सस्कृति से कृषि सस्कृति तक वर्ण व्यवस्था कवीलो से नागर सभ्यता की ओर दण्ड-व्यवस्था विवाह व्यवस्था भगवान् का राज्याभिषेक राज्य संस्थापना वश-स्थापन भगवान् के विविध नाम और गृहस्थ जीवन का काल
१. भगवान् ऋषभदेव से पूर्वकालीन परिस्थिति काल चक्र	२७—३१	६ ऋषभदेव द्वारा लोक-व्यवस्था वन्य सस्कृति से कृषि सस्कृति तक वर्ण व्यवस्था कवीलो से नागर सभ्यता की ओर दण्ड-व्यवस्था विवाह व्यवस्था भगवान् का राज्याभिषेक राज्य संस्थापना वश-स्थापन भगवान् के विविध नाम और गृहस्थ जीवन का काल

६. ऋषभदेव का वैराग्य और दीक्षा
नीलाञ्जना का नृत्य और मृत्यु
भगवान का वैराग्य
पुत्रो को राज्य-विभाजन
भगवान का अभिनिष्क्रमण
भगवान की दीक्षा
प्रयाग तीर्थ
तपोभ्रष्ट मुनिवेशी मरीचि का विद्रोह
७. भगवान मुनि-दशा में
भगवान की कठोर साधना
भगवान की जटायु
विद्याधर जाति पर आधिपत्य
राजकुमार श्रेयान्स द्वारा दानतीर्थ की प्रवृत्ति
८. भगवान को कैवल्य की प्राप्ति
कैवल्य-प्राप्ति
अक्षय वट
समवसरण की रचना
समवसरण और देवालय
भगवान का वैभव
श्वेताम्बर परम्परा में मान्य चौतीस अतिशय
भगवान का परिवार
भगवान के ८४ गणधर
९. भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन
प्रयाग में भगवान द्वारा धर्म चक्र-प्रवर्तन
दिव्य ध्वनि
धर्म-चक्र
भगवान के प्रचारक
भगवान का धर्म-विहार
१०. भगवान का अष्टापद पर निर्वाण
कैलाश में निर्वाण
भगवान का निर्वाण-कल्याणक
सिद्धक्षेत्र कैलाश (अष्टापद)
११. नाभिराज और मरुदेवी
जैन पुराणों में नाभिराज और मरुदेवी
श्रामद्भागवत में नाभिराज और मरुदेवी
१२. ऋषभदेव का लोकव्यापी प्रभाव
ऋषभदेव से सम्बन्धित तीर्थ और पर्व
श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव
भगवान ऋषभदेव और प्रमुख वैदिक देवता
ऋषभदेव और शिवजी
ऋषभदेव और ब्रह्मा
- ४७—५१
५२—५६
५७—६३
६३—६८
६८—७०
७१—७२
७२—८५
- वैदिक साहित्य के वातरशना तथा केशो
और भगवान ऋषभदेव
जैनतर ग्रन्थों में ऋषभदेव
भावनात्मक एकता के प्रतीक ऋषभदेव
भरत-बाहुबली खण्ड
१३. भरत की धर्म-रुचि
पुत्रोत्पत्ति, चक्रोत्पत्ति और भगवान को केवल
ज्ञान-प्राप्ति के तीन समाचार एक समय में
प्रथम कैवल्य-पूजा, सासारिक कार्य बाद में
१४. भरत की दिग्विजय
दिग्विजय द्वारा चक्रवर्ती-पद
१५. भरत के भाई-बहनो का वैराग्य
ब्राह्मी और सुन्दरी का दीक्षा-ग्रहण
भाइयों का वैराग्य
१६. भरत-बाहुबली-युद्ध
भरत और बाहुबली का निर्णायक युद्ध
बाहुबली का वैराग्य
पोदनपुर-निर्णय
१७. चक्रवर्ती का वैभव
चक्रवर्ती का राज्याभिषेक
भरत का वैभव
१८. भरत द्वारा वर्ण-व्यवस्था में सुधार
ब्राह्मण वर्ण की स्थापना
१९. भरत के सोलह स्वप्न
२०. भरत की विदेह वृत्ति
राज प्रासाद में वन्दनमालाएँ
लोक में वन्दनमाला की परम्परा
भरत की मुनि-भक्ति
भोग में भी विराग वृत्ति
२१. भरत का निष्पक्ष न्याय
सुलोचना स्वयम्बर
युवराज का अन्याय
युवराज की पराजय
चक्रवर्ती का न्याय
णमोकार मन्त्र का प्रभाव
जयकुमार का दीक्षा ग्रहण
२२. भरत का निर्वाण
२३. भरत और भारत
भारत का प्राचीन नाम
जैन साहित्य और भारत
जैनतर साहित्य और भारत
- ८६—८७
८७—९०
९०—९२
९२—९६
९६—९७
९७—९८
९८—१००
१००—१०४
१०४—१०८
१०८—११०
११०—११२

तृतीय परिच्छेद

भगवान् अजितनाथ	११३ ११४
पूर्व भव	
भगवान् का गर्भकल्याणक	
भगवान् का जन्म महोत्सव	
भगवान् का दीक्षा ग्रहण	
भगवान् को केवलज्ञान	
भगवान् का परिवार	
भगवान् का निर्वाण कल्याणक	
भगवान् अजितनाथ का तीर्थ	
यक्ष-यक्षिणी	

सगर चक्रवर्ती	११५—११६
पट्ट खण्ड का अधिपति सगर चक्रवर्ती।	
मणिकेतु द्वारा सगर को समझाने का यत्न	
सगर द्वारा मुनि-दीक्षा	
सगर का निर्वाण	
तीर्थ के रूप में गंगा की प्रसिद्धि का कारण	

चतुर्थ परिच्छेद

भगवान् संभवनाथ	११७—११८
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
निष्क्रमण कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण महोत्सव	
श्रावस्ती	
पुरातत्व	

पंचम परिच्छेद

भगवान् अभिनन्दननाथ	१२०—१२१
पूर्व भव	
गर्भावतरण	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष यक्षिणी	

षष्ठ परिच्छेद

भगवान् सुमतिनाथ	१२२—१२३
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिवार	
मोक्ष कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	

सप्तम परिच्छेद

भगवान् पद्मप्रभ	१२४—१२७
पूर्व भव	
गर्भावतरण	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का सङ्घ	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
कौशाम्बी	
पभीसा	

अष्टम परिच्छेद

भगवान् सुपाश्वर्चनाथ	१२८—१३१
पूर्व भव	
गर्भकल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
सुपाश्वर्चनाथ कालीन स्तूप	
सुपाश्वर्चनाथ की मूर्तियाँ और सर्प-फण-मण्डल	
स्वस्तिक	
वाराणसी	
काशी में नाग-पूजा	
पुरातत्व	

नवम परिच्छेद

भगवान् चन्द्रप्रभ
पूर्व भव
गर्भकल्याणक
जन्म कल्याणक
दीक्षा कल्याणक
केवलज्ञान कल्याणक
भगवान् का परिवार
भोक्ष कल्याणक
यक्ष-यक्षिणी
चन्द्र पुरी

१३२—१३४

द्वादश परिच्छेद

भगवान् श्रेयान्सनाथ
पूर्व भव
गर्भावतरण
जन्म कल्याणक
दीक्षा कल्याणक
केवलज्ञान कल्याणक
भगवान् का परिवार
निर्वाण कल्याणक
यक्ष-यक्षिणी
सिंहपुरी
त्रिपृष्ठ नारायण

१४२—१४४

१६१—१६३

दशम परिच्छेद

भगवान् पुष्पदन्त
पूर्व भव
गर्भ कल्याणक
जन्म कल्याणक
निष्क्रमण कल्याणक
केवलज्ञान कल्याणक
भगवान् का सघ
निर्वाण कल्याणक
अपर नाम
यक्ष-यक्षिणी
काकन्दी
ककुभग्राम

१३५—१३७

त्रयोदश परिच्छेद

भगवान् वासुपूज्य
पूर्व भव
गर्भ कल्याणक
जन्म कल्याणक
दीक्षा कल्याणक
केवलज्ञान कल्याणक
भगवान् का सघ
निर्वाण कल्याणक
यक्ष-यक्षिणी
चम्पापुरी

१६४—१६८

अचल बलभद्र, द्विपृष्ठ नारायण, तारक
प्रतिनारायण

१६८—१६९

एकादश परिच्छेद

भगवान् शीतलनाथ
पूर्व भव
गर्भ कल्याणक
जन्म कल्याणक
दीक्षा कल्याणक
केवलज्ञान कल्याणक
भगवान् का सघ
निर्वाण कल्याणक
यक्ष-यक्षिणी
भगवान् शीतलनाथ की जन्म-भूमि-भद्रिकापुरी
मिथ्यादान का इतिहास

१३८—१४१

चतुर्दश परिच्छेद

भगवान् विमलनाथ
पूर्व भव
जन्म कल्याणक
गर्भ कल्याणक
दीक्षा कल्याणक
केवलज्ञान कल्याणक
भगवान् का परिकर
निर्वाण कल्याणक
यक्ष-यक्षी
कम्पला

१७०—१७३

धर्म बलभद्र, स्वयंभनारायण, मध प्रतिनारायण [१७३]

पंचदश परिच्छेदः

भगवान् अनन्तनाथ	१७४—१७५
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षी	
अनन्त चतुर्दशी व्रत	१७५—१७६
पुरुषोत्तम नारायण, सुप्रभ बलभद्र, मधुसूदन	
प्रतिनारायण	१७६—१७७

षोडश परिच्छेद

भगवान् धर्मनाथ	१७८—१७९
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
रत्नपुरी	
सुदर्शन, बलभद्र, पुरुषसिंह नारायण, मधुक्रोड	
प्रतिनारायण	१७९—१८०
मधवा चक्रवर्ती	१८०—१८१
सनत्कुमार चक्रवर्ती	१८१—१८३

सप्तदश परिच्छेद

भगवान् शान्तिनाथ	१८४—१८२
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाणकल्याणक	

यक्ष-यक्षिणी
हस्तिनापुर

अष्टादश परिच्छेद

भगवान् कुन्थुनाथ	१८३—१८५
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का परिकर	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	

एकोनविंशति परिच्छेद

भगवान् अरनाथ	१८६—१८८
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का धर्म परिवार	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
सुभौम चक्रवर्ती	१८८—२०१
पूर्व भव	
परशुराम द्वारा सहस्रबाहु का सहार	
सुभौम का जन्म	
सुभौम को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति	
नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण,	
निशुम्भ, प्रतिनारायण	२०१—२०२

विंश परिच्छेद

भगवान् मल्लिनाथ	२०३—२०५
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान् का सध	

निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
मिथिला नगरी	
पद्म चक्रवर्ती	२०६
नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण,	
बलीन्द्र प्रतिनारायण	२०६—२०७

एकविंश परिच्छेद

भगवान मुनिसुव्रतनाथ	२०८—२११
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान का चतुर्विध सध	
निर्वाण कल्याणक	
राजगृही-जन्म नगरी	
मगध साम्राज्य की राजधानी के रूप में	
वर्तमान राजगृह	
बलभद्र राम, लक्ष्मण नारायण, रावण	
प्रतिनारायण	२११—२१२

द्वाविंश परिच्छेद

जैन रामायण	२१३—२६४
इक्ष्वाकुवंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश	
रघुवंश	
नारद की उत्पत्ति	
राक्षस वंश, वानर वंश	
राक्षस कुल में रावण का जन्म	
राजा जनक के भामण्डल और सीता का जन्म	
धनु परीक्षा और राम-सीता का विवाह	
भामण्डल और सीता का मिलन	
राम का वनवास	
वज्रकर्ण का कष्ट-निवारण	
लक्ष्मण को वनमाला का लाभ	
राम का जटायु से मिलन	
सीता का अपहरण	
लका के उद्यान में सीता	
सुग्रीव में राम की मित्रता	
लक्ष्मण द्वारा कोटिशिला उठाना	

हनुमान का लका-गमन	
राम का लका पर आक्रमण	
लक्ष्मण के शक्ति का लगना	
रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करना	
रावण की मृत्यु	
राम का लका-प्रवेश और अयोध्या-गमन	
बलभद्र, नारायण की विभूति	
भरत घर में वैरागी	
राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक	
शत्रुघ्न द्वारा मथुरा-विजय	
सीता का परित्याग	
लव-कुश का जन्म और दिग्विजय	
सीता जी की अग्नि-परीक्षा	
दीर्घ सूत्री भामण्डल का करुण निधन	
राम का वैराग्य और मोक्ष-गमन	

त्रयोविंशतितम परिच्छेद

नारद, वसु और पर्वत का संवाद	२६५—२७१
प्राचीन काल में यज्ञों का रूप	
मत्स्य पुराण में यज्ञों के विकास का इतिहास	
महाभारत में वसु का चरित्र	

चतुर्विंशतितम परिच्छेद

भगवान नमिनाथ	२७२—२७४
पूर्व भव	
गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
दीक्षा कल्याणक	
केवल ज्ञान कल्याणक	
भगवान का चतुर्विध सध	
निर्वाण कल्याणक	
यक्ष-यक्षिणी	
जयसेन चक्रवर्ती	२७४—२७५

पंचविंशतितम परिच्छेद

भगवान नेमिनाथ	२७६—२७७
पूर्व भव	
हरिवंश की उत्पत्ति	२७८—३०१
हरिवंश की स्थापना	
हरिवंश की परम्परा	
वसु की वंश-परम्परा में जरासन्ध	

महाराज समुद्रविजय का राज्याभिषेक	
वसुदेव की कुमार लीलाये	
अनेक कन्याओं के साथ विवाह	
रोहिणी की प्राप्ति	
वलभद्र वलराम का जन्म	
कस का जन्म और वसुदेव द्वारा वचन दान	
वसुदेव-देवकी का विवाह	
कृष्ण-जन्म	
कृष्ण का बाल्य-जीवन	
कृष्ण द्वारा देवियों का मान-मर्दन	
गोवर्धन पर्वत उठाने का रहस्य	
देवकी का पुत्र में मिलन	
कृष्ण की शस्त्र-विद्या का शिक्षण	
चाणूर और कस का वध	
माता-पिता से कृष्ण का मिलन	
सत्यभामा और रेवती का विवाह	
यादवों के प्रति जरासन्ध का अभियान	
भगवान का गर्भ कल्याणक	
जन्म कल्याणक	
यादवों द्वारा शौर्यपुर का परित्याग	
द्वारका नगरी का निर्माण	
रुक्मिणी के साथ कृष्ण का विवाह	
प्रद्युम्न का जन्म और अपहरण	
प्रद्युम्न को विजय-लाभ	
प्रद्युम्न की दृढ़ शील-निष्ठा	
प्रद्युम्न कुमार का माता-पिता से मिलन	
महाभारत-युद्ध	३०२—३०६
कुरुवंश	
राजकुमारों का प्रशिक्षण	
पाण्डवों का अज्ञातवास	
द्रौपदी-स्वयम्बर	
पाण्डवों का पुनः अज्ञातवास	
पाण्डव विराट नगर में	
पाण्डव द्वारिका में	
यादव कुल के प्रति जरासन्ध का कोप	
कुरुक्षेत्र में महाभारत-युद्ध	३०६—३१५
माता कुन्ती और कर्ण की भेंट	
व्यूह रचना	
युद्ध का भेरी-घोष	
श्रीकृष्ण द्वारा जरासन्ध का वध	
श्रीकृष्ण द्वारा दिग्विजय	

पाण्डवों का निष्कासन	
नेमिनाथ का शौर्य प्रदर्शन	
नेमिनाथ के विवाह का आयोजन	३१५—३२५
भगवान का दीक्षा कल्याणक	
राजीमती द्वारा दीक्षा	
भगवान नेमिनाथ का केवलज्ञान कल्याणक	
भगवान का धर्म विहार	
भगवान का धर्म परिकर	
गजकुमार मुनि पर उपसर्ग	
भगवान की भविष्यवाणी	
द्वारका दाह	
श्रीकृष्ण का करुण निधन	
मोह बिहल वलगाम की प्रव्रज्या	
पाण्डवों की निर्वाण-प्राप्ति	
भगवान नेमिनाथ का निर्वाण कल्याणक	
जरत्कुमार की व्रत-परम्परा	
भगवान नेमिनाथ एक ऐतिहासिक	
व्यक्तित्व	३२५—३२८
श्रीकृष्ण के गुण	३२८
श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानने	
की परिकल्पना	३२८—३३२
भगवान नेमिनाथ से सम्बद्ध नगर	३३२—३३८
भगवान नेमिनाथ की निर्वाण	
भूमि—गिरनार	
ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती	३३८—३४५
श्वेताम्बर परम्परा में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती	
हिन्दू परम्परा में ब्रह्मदत्त कथानक	

षड्विंशतितम परिच्छेद

भगवान पाशर्वनाथ	३४६—३६४
पूर्व भव	
प्रथम भव	
द्वितीय भव	
तृतीय भव	
चौथा भव	
पाचवाँ भव	
छटवाँ भव	
सातवाँ भव	
आठवाँ भव	
नौवाँ भव	
गर्भ कल्याणक	

पार्श्वनाथ के माता पिता, वश
 और जन्म तिथि
 भगवान का जन्म कल्याणक
 पार्श्वनाथ और महीपोल तपस्वी
 पार्श्वकुमार का विवाह ?
 पार्श्वनाथ का वैराग्य और दीक्षा
 सम्बर द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर उपसर्ग
 केवलज्ञान कल्याणक
 भगवान का चतुर्विध सघ
 निर्वाण कल्याणक
 पार्श्वनाथ और सबर के भवान्तर
 यक्ष-यक्षिणी

भगवान पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव ३५८—३६१
 पार्श्वनाथ की जन्म नगरी—काशी
 पार्श्वनाथ की निर्वाण-भूमि सम्भेद शिखर

सप्तविंशतितम परिच्छेद

भगवान महावीर

३६५—४०६

पूर्व भव
 गर्भ कल्याणक
 जन्म कल्याणक
 जन्म-नगरी—वैशाली
 महावीर के माता-पिता
 वश और गोत्र
 नामकरण
 बाल-लीलाएँ
 चिरकुमार महावीर
 कुमारामात्य और महावीर
 जीवन्त स्वामी की प्रतिमा
 वैराग्य और दीक्षा
 रुद्रकृत उपसर्ग

चन्दनवाला का उद्धार
 केवलज्ञान कल्याणक
 गणधर का समागम
 धर्म-चक्र-प्रवर्तन
 भगवान के गणधर
 भगवान का धर्म-सघ
 भगवान की दिव्यध्वनि
 तत्कालीन राजन्य वर्ग पर भगवान का प्रभाव
 श्रेणिक विम्बसार
 वैशाली का राज-परिवार
 सिद्धार्थ
 उदायन
 शतानीक
 दशरथ
 जीवन्धरकुमार
 अन्य नरेशगण
 महावीर का लोकव्यापी प्रभाव
 महावीर के समकालीन तैथिक
 पूर्णकाश्यप
 मंखलि गोशालक
 अजितकेश कम्बल
 प्रकुद्ध कात्यायन
 सजय वेलट्टिपुत्र
 गौतम बुद्ध
 भगवान महावीर का परिनिर्वाण
 भगवान महावीर के यक्ष-यक्षिणी

भगवान महावीर के कल्याणक स्थान

४०६—४१०

जन्म कल्याणक स्थान
 दीक्षा कल्याणक स्थान
 केवलज्ञान कल्याणक स्थान
 निर्वाण कल्याणक स्थान

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

तीर्थंकर चरितावली

प्रथम भाग



प्रथम परिच्छेद

जैन धर्म

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। क्षुद्र कीट पतंग से लेकर महान शक्ति-सामर्थ्य और ज्ञान विवेक से युक्त देव और मानवो तक सभी की इच्छा और प्रयास सुख की प्राप्ति के लिये ही होता है। अपनी इच्छा और कामना की पूर्ति में ही सुख समायो रहता है। दूसरो द्वारा बलात् थोपा गया सुख पीड़ा ही विश्व का अनादि सत्य निपजाता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी सुख की अभिलाषा करता है और उसका काम्य सुख स्वाधीनता में प्रगट होता है। अर्थात् साध्य सबका सुख है और उसका साधन स्वाधीनता है। स्वाधीनता के बिना सुख मिलता नहीं, पराधीनता में दुःख जाता नहीं। स्वाधीनता हो तो सुख मिल सकता है। इसलिए सुख की उपलब्धि स्वाधीनता के बिना संभव नहीं है। इसलिये कहना होगा कि सुख और स्वाधीनता ही विश्व का अनादि सत्य है और यही चरम सत्य भी है।

किन्तु यह भी सत्य है कि समग्र प्राणधारी सत्त्व, विश्व के समस्त जीव सुख चाहते हैं, प्रयत्न भी सुख के लिये करते हैं, किन्तु उनके हर प्रयत्न का परिणाम दुःख होता है, उनके सारे आयोजनों का परिपाक अनचाहे दुःख में होता है। सुख के लिये उनकी यह दौड़ मृग-मरीचिका बनकर रह जाती है। यह कैसी विडम्बना है कि सब सुख चाहते हैं, किन्तु सुख मिलता नहीं, दुःख नहीं चाहते, किन्तु दुःख टलता नहीं। दुःख के कटु बीज बोकर सुख के मीठे फल लगेंगे, यह कभी संभव नहीं। किन्तु प्रत्येक जीव आशा यही करता है। क्षुद्र प्राणियों की तो बात ही क्या है, बुद्धि के कौशल से सुविधा के साधनों का अम्बार इकट्ठा करने वाले मनुष्य को भी अभी समझना शेष है कि सुख के स्वादिष्ट फल सुख के वृक्ष पर ही लगेंगे और सुख का वह वृक्ष सुख का बीज बोकर ही उगेगा।

सुख का बीज स्वाधीनता है। दुःख कोई दूसरा नहीं देता, दुःख पर ही स्वाधीनता से आता है। सुख कोई दूसरा देता नहीं है, सुख स्वाधीनता में से आता है। सुख और दुःख का यह विचार अनुभव में से निकला है। यह दर्शन शास्त्र का दुरुह तत्त्व नहीं, यह चिन्तन का सहज फल है। दुःख मिलता है तो उसका कोई कारण भी रहा होगा। विचार करते हैं तो दृष्टि की पकड़ में दोष दूसरो का आता है। इसलिये उपालम्भ भी दूसरो को देते हैं। दुःख से बिलबिलाते हैं किन्तु दूसरो को उपालम्भ देकर हम उसका निदान करने की भ्रष्ट से बच जाते हैं। इससे दुःख की मात्रा तो कम होती नहीं, उपालम्भ की मात्रा बढ़ जाती है। दुःख का यही एकमात्र निदान व्यक्ति के

पास शेष रह गया है। किन्तु क्या इससे दुखो से मुक्ति मिल जाती है? निश्चय ही नहीं मिलती। तब समझना चाहिये कि दुख का यह निदान ही गलत है। सही निदान हो तो सही उपचार की आशा की जा सकती है। गलत निदान हो तो रोग की हर औषधि व्यर्थ हो जाती है।

दुख प्राणी मात्र का रोग है आज का नहीं, अनादि का रोग है। इस रोग को दूर करना है तो उसका सही निदान करना ही होगा। रोग का कारण पकड़ में आ जाय तो उस कारण को दूर करके रोग दूर किया जा सकेगा। रोग का कारण बना रहे और रोग दूर हो जाय, यह कभी संभव नहीं हो सकेगा।

ससार की प्रत्येक वस्तु मूलतः शुद्ध है और स्वतन्त्र भी। जब दूसरे तत्व से ससर्ग होता है, तब वस्तु अपने मूल रूप को छोड़कर अशुद्ध बनती है, उसमें विकार आता है। वह पराधीन होकर ही विकारी बनती है। ससार में प्राणी नाम का कोई मूल तत्व नहीं है। प्राणी तो प्राणधारी को कहते हैं। प्राण दस हैं—स्पर्शन, आत्मा का शाश्वत रूप रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिया, मन, वचन, काय, स्वासोच्छ्वास और आयु। ससार के प्रत्येक प्राणधारी जीव में इन दस प्राणों में से कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दस प्राण होते हैं। इन प्राणों को लेकर ही जीवन है। प्राण है, इसीलिये तो वह प्राणी कहलाता है। किन्तु प्राण शाश्वत रहने वाले नहीं हैं। आयु की मर्यादा को लेकर प्राण है। आयु समाप्त होते ही प्राणों का वियोग हो जाता है। इसलिये प्राण नामक कोई मूलतत्व नहीं है। आत्मा मूल तत्व है, प्राण उसके साथ सयुक्त है। अतः कहना होगा कि आत्मा और प्राण दो भिन्न वस्तु हैं। इसके साथ प्राणों का सयोग-वियोग चलता रहता है। प्राणों के सयोग-वियोग की यह आख मिचौनी ही जन्म-मरण कहलाती है। किन्तु यह जन्म-मरण आत्मा का नहीं होता, प्राणों का होता है। प्राण शरीर के अंग हैं, अतः वस्तुतः जन्म-मरण आत्मा का नहीं, शरीर का होता है। प्राण और शरीर जड़ हैं, आत्मा चेतन है।

चेतन का अर्थ है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये दोनों उपयोग सभी आत्माओं के स्वभाव है। ये किसी के निमित्त से नहीं हैं, ये तो आत्मा के गुण धर्म हैं। (इनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल के गुण धर्म हैं। प्राण और शरीर पुद्गल हैं। पुद्गल की पहचान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से होती है। वह अचेतन है।

आत्मा का एक गुण आनन्द है। आनन्द को ही सुख कहते हैं। आत्मा में सुख और आनन्द का अनन्त सागर लहरा रहा है, उसके स्वभाव में दुख का लेश भी नहीं है। (दुख जड़ पुद्गल का धर्म नहीं। पुद्गल में दुख नाम का कोई गुण नहीं, सुख नाम का भी गुण नहीं। उसका स्वभाव तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श है। तब प्रश्न उठता है—दुख न आत्मा का स्वभाव है, न पुद्गल का। तब आत्मा को दुख क्यों है?) जबकि सुख आत्मा का स्वभाव है तो आत्मा को सदाकाल सर्वत्र सुख ही मिलना चाहिये। दुख कभी नहीं मिलना चाहिए। किन्तु ससार के प्राणी सुखी नहीं, बल्कि दुखी हैं। प्राणी के जीवन में सुख का आभास तक नहीं होता और दुख प्रति पल होता है। इसलिये ससार में कोई प्राणी सुखी नहीं, सभी दुखी हैं, ऐसा क्यों है?)

जब हम दुख के कारणों की खोज करते हैं तो लगता है कि दुख आत्मा ने स्वयं उपार्जित किये हैं। वह स्व में स्थित नहीं रहा, पर में स्थित हो गया। स्व में स्थित रहता तो सुख मिलता क्योंकि स्व के भीतर ही सुख रहता है। स्व के साथ अनुभूति हो तो निश्चय ही सुख प्राप्त होता है। किन्तु वह पर के साथ सलग्न हो गया, पर में स्थित हो गया, अतः उसे दुख प्राप्त हुआ। अर्थात् स्वाश्रितता में सुख और पराश्रितता में दुख है। 'स्वस्थ' रहे तो सुख मिले, किन्तु वह 'अस्वस्थ' रहा, अतः उसे दुख मिला। दुख आत्मा का रोग है। यह रोग नाना नाम-रूप वाला है, किन्तु सबका कारण एक ही है और वह है अस्वस्थता। आत्मा अपना आलम्बन छोड़कर हर क्षण हर अवसर पर पुद्गल का आलम्बन करता है। पर का आलम्बन तभी लिया जाता है, जब स्वयं पर विश्वास नहीं रह जाता। पुद्गल आत्मा से भिन्न है, पर है। आत्मा को अपने ऊपर, अपनी शक्ति पर, अपने स्वरूप पर विश्वास नहीं है, इसलिये ही उसे पुद्गल का सहारा लेना पड़ रहा है। पुद्गल का सहारा लेते-लेते वह इस स्थिति तक जा पहुँचा है कि वह अपने सुख के लिए पुद्गल पर निर्भर हो गया है। अपने भीतर रहने वाले सुख पर अविश्वास करने लगा है और यह विश्वास करने लगा है कि सुख पुद्गल में है, पुद्गल से ही उसे सुख मिल सकता है। स्पर्शन, रसना,

घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचो इन्द्रियाँ और मन पुद्गल की रचना है। इनकी संचालक शक्तियाँ आत्मा का पुद्गल अर्थात् अनात्मा के साथ सम्पर्क की परिणाम हैं। आत्मा अनात्मा की भाषा में सोचता है, उसी पर विश्वास करता है और उसी के सहारे कार्य करता है। आत्मा की यह असहाय स्थिति ही उसके सारे दुखों की मूल है।

आत्मा जब बहुत दुखी होता है तो वह इस असह्य स्थिति से छुटकारे का प्रयत्न करता है, कभी छुटकारे की भावना उसके अन्दर जागने लगती है। इस प्रकार की स्थिति कभी-कभी सत्सगति पाकर होती है, कभी सन्तो-मुनियों की अमृतवाणी सुनकर होती है, कभी सत् शास्त्र आत्म और अनात्म का अध्ययन-मनन करने पर होती है और कभी ससार के दुखों से मुक्त होने का प्रयत्न करने का चिरकालिक सघर्ष वाले अथवा मुक्त हुए महापुरुषों के जीवन से प्रेरित होकर होती है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति प्रायः अल्पकालिक होती है। अधिकांशतः तो वह पौद्गलिक संरचनाओं के प्रति आसक्ति और उनके प्रति विभिन्न प्रकार के मानसिक द्वन्द्वों से अभिभूत ही बना रहता है। यह आसक्ति ही विषय और मानसिक द्वन्द्व ही कषाय कहलाते हैं। इन्द्रियों की अपने भोगों के प्रति आसक्ति ही विषय कहलाते हैं। दूसरों को लेकर मन में क्रोध, अहंकार, माया और लोभ की जागृति कषाय कहलाती है। वस्तुतः आत्मा अपने भीतर के इन विषय-कषायों को लेकर ही दुखी रहता है। दुख विषय-कषाय का परिणाम मात्र है, विषय-कषाय तो स्वयं दुख रूप है। ये तो ऐसी आग हैं जो आत्मा के सम्पूर्ण गुणों की, शान्ति एवं सुख की भस्म कर देती हैं। ये तो ऐसी अमर वेल हैं कि ये जिस आत्मा के सहारे उगती हैं, उसी का रस पी-पीकर बढ़ती जाती हैं। ये तो ऐसे विष-वृक्ष हैं कि एक बीज बोकर हजारों विष-फल लगते हैं। आत्मा अपने भीतर इन्हीं विष-बीजों को बोती रहती है और जब इसके विष वृक्ष बड़े होते हैं और उन पर विष-फल लगते हैं तो उन्हें खाकर निरन्तर बिलबिलाता और छटपटाता रहता है।

कौन आत्मा है जो सुख नहीं चाहता। किन्तु कितनी आत्मा है जो इन विषय और कषायों से मुक्त होने का प्रयत्न करती है। ससार की अधिकांश आत्माएँ तो यह भी नहीं जानती कि विषय-कषाय आत्मा के शत्रु हैं या ये आत्मा का अहित करते हैं। ये आत्माएँ तो घोर अज्ञानान्धकार में भटक रही हैं। वे दुख का सही निदान नहीं जानती, फिर दुख से उनका छुटकारा कैसे हो। शेष आत्माएँ-जिनकी सत्त्वा अत्यल्प है—यह जानती हैं कि आत्मा के शत्रु केवल मेरे अपने ही विषय-कषाय हैं। जानती तो हैं किन्तु इसे मानती नहीं हैं, सुनकर-पढ़कर जान लिया प्रवश्य किन्तु उनकी मान्यता (विश्वास) और आचरण उन आत्माओं जैसा है, जो अज्ञान के कारण जानती तक नहीं जानती हैं, किन्तु मानती नहीं, क्योंकि उन्हें पुद्गल के प्रति मोह है, उन्हें अपने प्रति आस्था नहीं, उनकी आस्था पुद्गल के प्रति है। आस्था अपने प्रति हो तो उनके भीतर आत्मा के सच्चिदानन्द रूप को पाने की ललक भी जागे। इसलिये उनका जानना भी निरर्थक हो जाता है।

किन्तु कुछेक आत्मा ही हैं जो इस तथ्य को जानती हैं, इसे मानती भी हैं और उसके लिये अपने आचरण में सुधार भी करती हैं। इस प्रकार वे ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की समन्वित एकता के द्वारा अज्ञान और मोह से सघर्ष करती हैं। पुद्गल उन्हें वलात् पथभ्रष्ट नहीं करता, उनको पथभ्रष्ट करने की सामर्थ्य तो उनके अपने भीतर के अज्ञान और मोह नामक विकार में है। ये अनादिकालीन सत्कार क्षण भर में दूर नहीं हो पाते। सत्य सकल्प का सबल लेकर इनसे सघर्ष करने का पुरुषार्थ जगाना पड़ता है। सकल्प और पुरुषार्थ में जितना तेज और बल होगा, भविष्य की राह उतनी तीव्रता और शीघ्रता से तय होती जायगी। यह तथ्य मदा स्मरण रखना होगा कि ('आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन') अर्थात् स्वयं आत्मा ही अपना शत्रु है और आत्मा स्वयं अपना मित्र है। इस तत्त्व-दर्शन में अभाव-अभियोगों को कोई अवकाश नहीं है। यह तो आत्मा की अनंत सामर्थ्य के प्रति अडिग आस्था का लीह-नेख है। अज्ञान और मोह आत्मा की निर्वलता के प्रमाण-पत्र हैं। इन प्रमाण-पत्रों को नष्ट कर ही आत्मा की शुचिता के दर्शन होते हैं। यह तो आत्मा का सम्पूर्ण अनात्म के प्रति—चाहे वह आत्मा का अज्ञान और मोहरूप विकार हो, चाहे पुद्गल की संरचना हो—सघर्ष की उद्घोषणा है और उस आत्म-अनात्म के सघर्ष में आत्मा की विजय की स्वीकृति है।

१ आत्मा अज्ञान, मोह अथवा भ्रम के कारण अनात्म पुद्गल के प्रति अपनत्व का नाता जोड़ लेता है। इस

अपनत्व की प्रक्रिया के कारण एक ऐसी आकर्षण-विकर्षण की सतत लहरे आन्दोलित होने लगती हैं कि आत्मा अपने आपको भूल जाता है और पुद्गल को अपना मान बैठता है, पुद्गल को लेकर सुख-दुःख की अनात्म पर आत्म-विजय की राह कल्पना करने लगता है, पुद्गल के सयोग-वियोग को इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-प्राप्ति अथवा अपना लाभ-हानि मान बैठता है। इस मिथ्या मान्यता में फँसकर उसका सम्पूर्ण ज्ञान और क्रिया भी मिथ्या हो जाती है। तब पुद्गल की वर्गणाये आकृष्ट होकर उसके साथ सग्लिष्ट हो जाती है। पुद्गल का यह सश्लेष ही कर्म-बन्ध कहलाता है। कर्मों के बन्धन में बद्ध होकर आत्मा जब पुद्गल के लिये ही सारा व्यापार करने लगता है।

[किन्तु गहराई में उतर कर देखे तो हम पायेंगे कि आत्मा को पुद्गल कर्मों ने कभी नहीं बाधा। उसके बन्धन तो उसके निजी विकार है। दोष पुद्गल का नहीं, स्वयं आत्मा का है। जब तक दृष्टि स्व पर न लग कर पर पर लगी है, तब तक उसके विश्वास, चिन्तन और कार्य कलाप का केन्द्र-बिन्दु पर रहेगा। जब तक केन्द्र-बिन्दु पर रहेगा, तब तक वह पर में ही उलझा रहेगा। और वह अपने सारे दुःखों के लिये पर को उत्तरदायी बनाता रहेगा। इन अभाव-अभियोगों के जाल को वह कभी तोड़कर बाहर नहीं निकल पायेगा। किन्तु जब अन्तर्दृष्टि पर से हट कर स्व पर केन्द्रित हो जाती है, तब उसकी अनुभूति का केन्द्र स्व बन जाता है। स्व की अनुभूति में सुख का सम्बेदन होने लगता है। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदली। अतः आवश्यक है कि सुख के अन्वेष्टन की राह में कदम बढ़ाने से पहले दृष्टि बदले। मिथ्या दृष्टि को छोड़कर सम्यग्दृष्टि अपनाये। दृष्टि का सम्यक्त्व यह है कि आत्मा स्व की ओर उन्मुख हो, पर की ओर उन्मुखता बन्द करे।]

[स्व की ओर उन्मुखता का अर्थ स्पष्ट समझ ले। आत्मा तो सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। उसे दुःख मिलता है अपनी भूल से। भूल से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं, जिन्हें विषय-कषाय कहते हैं। अतः दुःख की जिम्मेदारी पदार्थ की नहीं, हमारी अपनी है। अतः पदार्थों का जोड़-तोड़ करना बन्द करे। न पदार्थ हमारे सुख-दुःख का कर्ता है, न हम पदार्थ के भोक्ता हैं। न हम पदार्थ के कर्ता हैं, न पदार्थ हमारा भोक्ता है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने परिणामन का कर्ता-भोक्ता है। ससार में अनन्त पदार्थ हैं, रहे। हम उनके ज्ञाता-दृष्टा रहे। मैं अपना कर्ता-भोक्ता स्वयं हूँ, अन्य नहीं, इस दृष्टि को जगाये तो अपने प्रति आस्था जागेगी। तब यह विश्वास संतेज हो उठेगा कि मैं ही अपने दुःख का उत्तरदायी हूँ। मेरी भूल, अज्ञान और मोह ही मेरे शत्रु हैं, अन्य नहीं। यह दृष्टि आई कि पर निर्भरता और पराधीनता दूर हुई। इससे पर के प्रति आसक्ति दूर होगी और अपनी अनन्त शक्ति के प्रति विश्वास प्रबल होगा। तब हमारा ज्ञान सार्थक हो उठेगा और जो कुछ करेंगे, वह अपने लिये स्वयं करेंगे। यही स्व के प्रति उन्मुखता कहलाती है।]

ससार में ऐसे मनुष्य मिल जायेंगे, जो सिंह को चारों पैर पकड़ कर पछाड़ दे, ऐसे भी व्यक्ति मिलेंगे जो मदोन्मत्त हाथी का मद अपने मुष्टिका-प्रहार से गलित कर दें, ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो आत्म-विजय के भयानक शत्रु-वीरो को युद्ध में पराजित कर दें। ऐसे व्यक्तियों को वीर कहा जाता है। किन्तु जो पुरस्कर्ता-जिन अपने आत्म-विकारों पर विजय प्राप्त कर ले, अथवा अपने ऊपर विजय प्राप्त कर लें, ऐसे व्यक्ति विरल मिलेंगे। ऐसे आत्मजयी पुरुष 'जिन' कहलाते हैं, वे वीर नहीं महावीर कहे जाते हैं।

['जिन' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। जो आत्म-विकारों पर सदा-सर्वदा के लिये विजय प्राप्त कर लेते हैं, उन विकारों को सदा के लिये आत्मा में से दूर कर देते हैं, ऐसे आत्मजयी व्यक्ति ही 'जिन' कहलाते हैं। आत्म-विजय किसी के अनुग्रह का फल नहीं है, वह तो आत्मा के स्व के प्रबल पुरुषार्थ से निपजती है। आत्म-विजय अस्वस्थता-परोन्मुखता से हटकर आत्मा की स्वोन्मुखता एवं स्वस्थता द्वारा होती है। आत्म-विजय साधना से निष्पन्न होती है। जो आत्म विजय कर लेते हैं, उनके अन्तर की विषय-कषाय और कर्ममल नष्ट हो जाते हैं। तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप-सच्चिदानन्द रूप प्रगट हो जाता है। वे ही महाभाग 'जिन' कहलाते हैं।]

जब तक 'जिन' इस मानव-शरीर को धारण किये हुए रहते हैं, तब तक ही उन्हें 'जिन' कहा जाता है। उन्हें अर्हत्, सकल या सशरीरी परमात्मा भी कहा जाता है। जब आयु समाप्त हो जाती है और इस शरीर से

मुक्त हो जाते हैं, तब वे सिद्ध या निकल अर्थात् अशरीरी परमात्मा कहलाने लगते हैं। फिर उनका जन्म-मरण नहीं होता। उन्हें शरीर नहीं धारण करना पड़ता। उनके सम्पूर्ण विकार, समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा का अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि सहज और वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जाता है। वे अपने इसी स्वरूप में स्थित रहते हैं।

‘जिन’ को ही सम्मानसूचक अर्थ में जिनदेव, जिनेश्वर, जिनेन्द्र आदि शब्दों द्वारा व्यवहृत किया जाता है। आशय की दृष्टि से इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। इन्हीं को पूज्य अर्थ में अर्हन्त, अर्हन्त, अरिहन्त अथवा अरहन्त भी कहा जाता है। अरहन्त शब्द में शब्दार्थ की दृष्टि से यह भी आशय निगूढ़ है कि उन्होंने आत्मा के जो विषय, कषाय अथवा कर्म शत्रु थे, उन्होंने इन सबका नाश कर दिया।
जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैन धर्म है
 विषय और कषाय आत्मा की सहज स्वाभाविक परिणति नहीं है, ये तो वैभाविक-विकारी परिणामन हैं। इन भावनात्मक विकारों को आत्मा में से निर्मूल कर दिया, उनको जीत लिया है। इसी आशय में कहा जाता है कि उन शत्रुओं का नाश कर दिया है। विषय और कषाय रूप विकृतियों को ही राग-द्वेष कहा जाता है। इन राग-द्वेष रूप विकृतियों को जीतकर ही वीतराग और जिन बनते हैं।

उन वीतराग जिन ने आत्म-विजय का जो उपदेश दिया, जो राह बताई, उसका एक निश्चित रूप तो है, किन्तु नाम कुछ नहीं है। किन्तु लोक में व्यवहार के लिए, सुविधा के लिये, उसका एक नाम रख लिया। वह ‘जिन’ का धर्म था, अतः ‘जिन’ का धर्म ‘जैन धर्म’ कहलाने लगा। यही यह समझ लेना सचिकर होगा कि ‘जिन’ किसी अमुक व्यक्ति का नाम नहीं है, यह तो एक पदवाचक शब्द है। जिसने भी आत्म-विजय की है, वही जिन कहलाने लगा। चूँकि आत्म-विजय करने वाला वीतराग होता है, इसलिये उन्होंने आत्म-विजय के लिये जिस धर्म का उपदेश दिया, वह धर्म भी वीतराग धर्म है। उसका प्रारम्भ अथवा उसकी स्थापना किसी व्यक्ति विशेष ने नहीं की, इसलिये जैनधर्म का प्रारम्भ किसी काल-विशेष में नहीं हुआ। वह तो आत्म-विजय की चिरन्तन राह है, वह तो आत्मा के सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति की सार्वदेशिक और सार्वकालिक जीवन-पद्धति है। यह तो वह जीवन-दर्शन है, जिस पर चलकर ‘जिनो’ ने आत्म-विजय की है और भविष्य में भी जो आत्म-विजय करेंगे, वे इसी राह पर चलकर ही करेंगे। इसलिये कहना होगा कि जैन धर्म वस्तुतः शाश्वत सत्य है। आज धर्म सम्प्रदाय के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। किन्तु जैन धर्म सम्प्रदाय नहीं, किन्तु यह तो आत्मा के लिये है, आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है, आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। इसलिये इसे आत्म-धर्म कहना तथ्य को स्वीकार करना होगा। सुविधा के लिये इसे हम जिनधर्म, जैनधर्म, अर्हन्त धर्म कह सकते हैं और चाहें तो इसे निज धर्म भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यह बात विशेष महत्वपूर्ण है कि प्राचीन साहित्य में जैनधर्म का नामोल्लेख नहीं है। इससे उन लोगों का तर्क स्वयं खण्डित हो जाता है, जो यह कहते हैं कि जैनधर्म का उदय तथाकथित ऐतिहासिक काल की उपज है अथवा यह कि जैनधर्म की स्थापना पार्श्वनाथ अथवा महावीर ने की या यह प्राचीन साहित्य में कि जैनधर्म ब्राह्मण धर्म की हिंसामूलक यज्ञ-परम्परा की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में जैनधर्म का नामोल्लेख आया। वस्तुतः जैनधर्म आत्म-दर्शन के रूप में उस समय से प्रतिष्ठित रहा है, जबसे आत्म-विजय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ है। वेदत्रयी के परवर्ती साहित्य में जिन और जैन मत के स्पष्ट उल्लेख होने लगे थे। संभवतः इस काल में आकर लोग इस धर्म को जैनधर्म और उसके पुरस्कर्ताओं को ‘जिन’ नाम से व्यवहृत करने लगे थे। योगवाशिष्ठ,^१ श्रीमद् भागवत्,^२ विष्णुपुराण,^३ शाकटायन व्याकरण,^४ पद्मपुराण,^५

१ योगवाशिष्ठ अ० १५ श्लोक ८

२ श्रीमद्भागवत ५।५

३ विष्णुपुराण २।१

४ शाकटायन-अनादि सूत्र २८६ पाद ३

५ पद्म पुराण (व्यकटेश प्रेस) पृ० २

मत्स्यपुराण^१ आदि में जिन, जैनधर्म आदि नामों से उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य में जैनधर्म के लिये श्रमण शब्द का भी प्रयोग मिलता है। अतः श्रमण क्या है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति कही जाती है। भारतीय संस्कृति पावनतोया गंगा है। उसमें दो महान नदियाँ आकर मिली हैं—श्रमण और वैदिक। इन दोनों के सगम से भारतीय संस्कृति की दो विशाल भारतीय संस्कृति की गंगा बनी है। न अकेली श्रमण धारा को हम भारतीय धाराएँ-श्रमण और वैदिक संस्कृति कह सकते हैं और न अकेली वैदिक धारा को हम भारतीय संस्कृति का नाम दे सकते हैं। ये दोनों धाराएँ परस्पर विरोधी लगती हैं, किन्तु दोनों ने मिलकर ही भारतीय संस्कृति का निर्माण किया है।

दोनों धाराओं की भी अपनी अपनी संस्कृति रही है। उन दोनों संस्कृतियों के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है—

“मुनि शब्द के साथ ज्ञान, तप और वैराग्य जैसी भावनाओं का गहरा सम्बन्ध है। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। श्रमण संस्कृति में ही यह शब्द अधिकांशतः प्रयुक्त है। पुराणों में जो वैदिक तथा वैदिकोत्तर धाराओं का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, ऋषि और मुनि दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ मिले जुले अर्थ में होने लगा था। दोनों संस्कृतियों में ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिकी संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी तो श्रमण संस्कृति या मुनि संस्कृति में अहिंसा, निरामिपता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी।”

श्रमण और वैदिक संस्कृति के अन्तर को संक्षेप में समझने के बाद यह समझना आवश्यक है कि श्रमण का अर्थ या आशय क्या है ?

दशवैकालिक सूत्र १७३ की टीका में आचार्य हरिभद्र सूरि ने श्रमण शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—
श्राम्यन्तीति श्रमणा तपस्यन्ते इत्यर्थः । अर्थात् जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह श्रमण है।

श्रमण शब्द की इस व्याख्या में ही श्रमण संस्कृति का आदर्श अन्तर्निहित है। जो श्रम करता है, तपस्या करता है और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करता है, वही श्रमण कहलाता है। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले और पुरुषार्थ द्वारा आत्म-सिद्धि करने वाले क्षत्रिय होते हैं। इसलिये कहना होगा कि श्रमण संस्कृति पुरुषार्थमूलक क्षत्रिय संस्कृति रही है।

(प्राचीन वैदिक साहित्य में-विशेषतः वेदों में याज्ञिक कर्मकाण्ड द्वारा विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने और उनसे सासारिक याचना करने के विधान पाये जाते हैं। याचना करना ब्राह्मणों का धर्म है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। इसीलिये इस संस्कृति में ब्राह्मणों को ही सर्वाधिक गौरव प्रदान किया गया है। यह संस्कृति परम्परामूलक रही है।)

हमारी इस मान्यता का समर्थन वैदिक साहित्य से भी होता है। तैत्तिरीय आरण्यक में (२ प्रपाठक ७ अनुवाक १-२) में वर्णन आया है कि—

“वातरशन श्रमण ऋषि ब्रह्मपद की ओर उत्क्रमण करने वाले हुए। उनके पास अन्य ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुए। उन्हें देख कर ऋषि कहीं अन्तर्हित हो गये। वे वातरशन कूष्माण्ड नामक मन्त्र वाक्यों में अन्तर्हित थे। तब उन्हें अन्य ऋषियों ने श्रद्धा और तप से प्राप्त कर लिया। ऋषियों ने उन वातरशन मुनियों से प्रश्न किया—‘किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते हैं। वातरशन मुनियों ने उन्हें निलय आये हुए अतिथि मानकर कहा—‘हे मुनिजनों! आपको नमोऽस्तु है। हम आपका सत्कार किससे करें?’ ऋषियों ने कहा—‘हमें पवित्र आत्म-विद्या का उपदेश दीजिये जिससे हम निष्पाप हो जाय।’

(इस उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रमण मुनि आत्म विद्या में निष्णात थे, जबकि वैदिक ऋषियों को आत्मविद्या

का ज्ञान नहीं था। आत्मविद्या के जानकार केवल क्षत्रिय श्रमण ही होते थे, वैदिक ऋषियों के लिये आत्मविद्या अज्ञात थी। श्रमण जैन परम्परा की यह मान्यता कि सभी तीर्थंकर केवल क्षत्रिय ही होते हैं, हमारी इस धारणा को पुष्ट करती है कि श्रमण परम्परा क्षत्रियों की परम्परा रही है।

श्रीमद्भागवत में श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशन ऊर्ध्वमन्थी श्रमण मुनि हैं, वे शान्त, निर्मल, सम्पूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्म पद को प्राप्त करते हैं।

श्रमणों की उपर्युक्त पहचान वस्तुतः सही है। इसलिये निघण्टु की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है—

‘श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातरशनाः।’

श्रीमद्भागवत ११।२ में उपर्युक्त व्याख्या का ही समर्थन इस प्रकार किया गया है—श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदा।

श्रमण दिगम्बर मुनि होते थे। उन मुनियों को ही भागवतकार ने ऊर्ध्वरेता, वातरशना, आत्मविद्या में विशारद बतलाया है।

भागवतकार ने स्कन्ध १२ अध्याय ३ श्लोक १८-१९ में श्रमणों की जो प्रशंसा की है, वह उनके उच्च आचार-विचार की द्योतक है। महर्षि शुक्रदेव राजा परीक्षित को उपदेश देते हुए कहते हैं—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतिः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥
सन्तुष्टा करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥

अर्थात् हे राजन! कृतयुग (सतयुग) में धर्म के चार चरण होते हैं—सत्य, दया, तप और दान। इस धर्म को उस समय लोग निष्ठापूर्वक धारण करते हैं। सतयुग में प्रायः श्रमण ही सन्तुष्ट, करुणाशील, मैत्रीपरायण, शान्त, इन्द्रियजयी, सहनशील, आत्मा में रमण करने वाले और समदृष्टि वाले होते हैं।

इस प्रकार के दिगम्बर श्रमणों का उल्लेख अति प्राचीन काल से होता आया है। ऋग्वेद १०।६४।११ में श्रमणों का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है। रामायण (वाल्मीकि) में भी अनेक स्थलों पर श्रमणों का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया गया है। रामचन्द्रजी ने जिस शवरी का आतिथ्य ग्रहण किया था, वह श्रमणों थी (श्रमणी शवरी नाम श्रमणा श्रमणोत्तमा)। राजा जनक जिस प्रकार तापसों को भोजन कराते थे, श्रमणों को भी वैसे ही कराते थे (तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनियों को कहा जाता था। भारत में श्रमणों का अस्तित्व अति प्राचीन काल से पाया जाता है। श्रमण आत्मविद्या में पारंगत थे। वैदिक ऋषि उनसे आत्मविद्या सीखते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल^१ के अनुसार ‘श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।’

प्राचीन काल में जैनो को ही श्रमण कहा जाता था। प्राचीनतम भारतीय साहित्य में श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं।

वैदिक ग्रन्थों में जैनधर्मानुयायियों को अनेक स्थलों पर ब्राह्मण भी कहा गया है। व्रतों का आचरण करने के कारण वे ब्राह्मण कहे जाते थे। संहिता-काल में ब्राह्मणों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। संहिताओं में ब्राह्मणों के लिये बड़े आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जब तक वैदिक आर्य ब्राह्मणों के निकट सम्पर्क में नहीं आये थे और उनके साथ वैदिक आर्यों को निरन्तर संघर्ष करना पड़ा था, उस समय ऋग्वेद में जो मन्त्र लिखे गये, उनसे ज्ञात होता है कि कीकट (मगध) देश का राजा प्रमगद था। वह ब्राह्मण था। उसके राज्य में ब्राह्मणों के पास अपार धन, गाये और वैश्व था।

इन्द्र से अनेक मन्त्रों द्वारा उनके धन और गायों को दिलाने की प्रार्थना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि कीकट देश में ब्राह्मणों का शासन था और ब्राह्मणों की राजनैतिक और सैनिक शक्ति वैदिक आर्यों से श्रेष्ठ थी।

किन्तु धीरे धीरे जब वैदिक आर्यों के निकट सम्पर्क में आये और उनकी आत्म-साधना, उन्नत आध्यात्मिक ज्ञान एवं उच्च मान्यताये देखी तो वे उनसे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने यज्ञों के विरोधी ब्राह्मणों की प्रशंसा में अनेक मन्त्रों की रचना की। ब्राह्मणों की यह प्रशंसा ऋग्वेद काल से लेकर अथर्ववेद काल तक प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो स्वतन्त्र ब्राह्मण सूक्तों की रचना भी मिलती है।

इसी ब्राह्मण सूक्त में एक मन्त्र द्वारा ब्राह्मणों की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

‘जो देहधारी आत्मा है, जिन्होंने अपनी आत्मा को देह से ढका है, इस प्रकार के जीव समूह समस्त प्राण-धारी चैतन्य सृष्टि के स्वामी हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं।’

एक मन्त्र में ब्राह्मणों के निन्दकों की भर्त्सना करते हुए कहा है—

‘जो ऐसे ब्राह्मणों की निन्दा करता है, वह ससार के देवताओं का अपराधी होता है।’

कर्मकाण्ड की ही धर्म मानने वाले ब्राह्मणों की अपेक्षा साधारण ब्राह्मणों को श्रेष्ठ बताते हुए एक मन्त्र में कहा गया है—

‘यद्यपि सभी ब्राह्मण आदर्श पर इतने ऊँचे चढ़े हुए न हों, किन्तु ब्राह्मण स्पष्टतः परम विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्ववद्य, कर्मकाण्ड को धर्म मानने वाले ब्राह्मणों से विशिष्ट महापुरुष होते हैं, यह मानना ही होगा।’

वैदिक ऋषि ब्राह्मणों के उच्च नैतिक मूल्यों से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने वेदों की ऋचाओं द्वारा याज्ञिकों को यह तत्त्व आदेश दिया कि—

‘यज्ञ के समय ब्राह्मण आज्ञाय तो याज्ञिक को चाहिये कि ब्राह्मण की इच्छानुसार यज्ञ को करे अथवा उसे बन्द करदे। जैसा ब्राह्मण यज्ञ-विधान करे, वैसा करे।’

‘विद्वान् ब्राह्मण ब्राह्मण से इतना ही कहे कि जैसा आपको प्रिय है, वही किया जायगा। वह ब्राह्मण आत्मा है। आत्मा का स्वरूप है। आत्म साक्षात् दृष्टा महाव्रत के पालक ब्राह्मणों के लिये नमस्कार हो।’

इस प्रकार सहिता काल में ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त सम्मान के भाव प्रगट किये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण शब्द का प्रयोग श्रमण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ये श्रमण और ब्राह्मण ही परवर्ती काल में जैन कहलाने लगे।

इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि सहिताओं का निर्माण-काल भारतीय सस्कृति का स्वर्णिम काल था। उस समय भारत में जन्मी श्रमण सस्कृति और भारत की मिट्टी में पनपी वैदिक सस्कृति मुक्त और उदार भाव से परस्पर लेन-देन कर रही थी। भारत की स्वस्थ जलवायु में एक नई सस्कृति जन्म ले रही थी। भौतिक दृष्टि वाली वैदिक सस्कृति श्रमण सस्कृति के आध्यात्मिक मूल्यों पर मुग्ध हो रही थी। उस काल में वैदिक ऋषियों ने श्रमण अथवा ब्राह्मणों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की और तभी उन्होंने ब्राह्मण सूक्त, ऋषभ सूक्त तथा स्वतन्त्र मन्त्रों द्वारा महाब्राह्मण ऋषभदेव, महाव्रत पालक ब्राह्मण श्रमणसाधु और सामान्य ब्राह्मण-श्रमण परम्परा के अनुयायी जनो की स्तुति और प्रशंसा की।

किन्तु लगता है, ब्राह्मण साहित्य, स्मृति और पुराण-काल विशेषतः विष्णुपुराण के रचना काल में आकर वैदिक ऋषियों के ये भाव स्थिर नहीं रह सके और वे ब्राह्मणों की निन्दा करने लगे। संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि ब्राह्मणों की आध्यात्मिक धारा से प्रभावित होकर वैदिक कर्मकाण्डमूलक विचारधारा अपने मूल रूप को छोड़कर औपनिषदिक ज्ञान काण्ड की ओर मुड़ने लगी थी। ऐसी स्थिति में अपने मूल रूप को स्थिर रखने के लिये वैदिक

१ ऋग्वेद १।३३।५, १।१०।११, १।१३।१८, ७।१०।४।२, ३।३०।१७

२ अथर्ववेद काण्ड १५ में २२० मन्त्रों द्वारा ब्राह्मणों की स्तुति की गई है।

३ अथर्ववेद काण्ड १५

४ ऋग्वेद २।३३।१५, ४।६।२६।४, अथर्ववेद १।१।४२।४

ऋषियों की चिन्ता स्वाभाविक थी। अतः इस काल में ब्राह्मणों को अयज्वन, अन्यत्रत, अकर्मन् आदि शब्दों द्वारा वैदिक अनुयायियों की दृष्टि में गिराने के प्रयत्न किये जाने लगे। इसी काल में ब्राह्मणों और वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों के आधार पर प्रादेशिक सीमाये स्थिर की गईं। इतना ही नहीं, अग-वग-कलिंग-सौराष्ट्र और मगध में जाना निषिद्ध घोषित कर दिया गया और जाने पर प्रायश्चित्त का विधान तक किया गया। पुराणों में इस प्रकार के कल्पित कथानकों तक की रचना की गई कि एक राजा-रानी को एक ब्राह्मण (जैन) में केवल बात करने के अपराध का प्रायश्चित्त अनेक जन्म धारण करके करना पड़ा। अथवा प्राणों पर सकट आने की दशा में यदि जैन मन्दिर में जाकर प्राण-रक्षा की सभावना हो सकती है तो भी जैन मन्दिर में प्रवेश करके प्राण-रक्षा करने की अपेक्षा मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर घोषित कर दिया। ब्राह्मणों की लोक-भाषा प्राकृत को हीन घोषित करना, अथवा उसे स्त्रियों और शूद्रों की भाषा करार देना भी ब्राह्मणों के विरुद्ध वैदिक ऋषियों द्वारा आयोजित घृणा-प्रसार-आन्दोलन का ही एक अंग रहा है।

किन्तु वैदिक ऋषियों की इस चिन्ता अथवा इस घृणा-आन्दोलन का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन श्रमणों और ब्राह्मणों—जिनकी प्रशंसा संहिता ग्रन्थों में की गई है—की कर्मकाण्ड विरोधी और अध्यात्म मूलक सस्कृति अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली थी। उसके प्रभाव से वैदिक सस्कृति अपना स्वरूप बदलने को बाध्य हो रही थी। उपनिषदों पर श्रमण-ब्राह्मण सस्कृति का प्रभाव स्पष्ट ही था। ऐसी दशा में ही वैदिक सस्कृति को बचाने की चिन्ता वैदिक ऋषियों को करनी पड़ी। कल्पना करे, यदि उन्होंने श्रमणों-ब्राह्मणों के विरुद्ध ये घृणा की दीवारें खड़ी न की होती और ये घृणा-आन्दोलन न चलाये जाते तो भारतीय सस्कृति का वह रूप न होता जो आज दिखाई पड़ता है, अथवा वैदिक सस्कृति शुष्क कर्मकाण्ड और भौतिकवाद की दलदल से निकलकर शुद्ध अध्यात्म प्रधान सस्कृति का रूप ग्रहण कर लेती।

जैन अर्थ में श्रमण और ब्राह्मण शब्दों के समान आर्हत शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। संभवतः पौराणिक काल में इस शब्द का प्रयोग खुलकर होने लगा था। श्रीमद्भागवत में तो आर्हत शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। एक स्थान^१ पर भगवान् ऋषभदेव के सन्दर्भ में लिखा है—‘तपाग्नि से कर्मों को नष्टकर वे सर्वज्ञ ‘आर्हत’ हुए और उन्होंने ‘आर्हत मत का प्रचार किया। विष्णुपुराण^२ में देवासुर सग्राम के प्रसंग में मायामोह का उल्लेख करते हुए लिखा है—‘माया मोह ने असुरों में ‘आर्हत’ धर्म का प्रचार किया।’ वह माया मोह एक दिग्गम्बर मुनि के रूप में चित्रित किया गया है। हिन्दू ‘पद्म पुराण’ में इस माया मोह की उत्पत्ति बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु द्वारा बताई गई है। इस मुँह से और मयूर पिच्छिकाधारी योगी दिग्गम्बर मायामोह द्वारा दैत्यों (असुरों) को जैन धर्म का उपदेश और उनके द्वारा जैन धर्म में दीक्षित होने का स्पष्ट उल्लेख है। ‘मत्स्य^३ पुराण’ में बताया है कि अहिंसा ही परम धर्म है, जिसे आर्हन्तों ने निरूपित किया है।

इस प्रकार विभिन्न हिन्दू पुराणों में ‘आर्हतमत’ और आर्हन्तों का उल्लेख मिलता है।

संक्षेप में श्रमण, ब्राह्मण, आर्हत, जैन इन शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में वातर-शनः, ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वमन्थी शब्दों का प्रयोग भी श्रमण मुनियों के लिए ही हुआ है। जहाँ भी इन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वह अत्यन्त सम्मान पूर्ण आशय से ही हुआ है।

इतिहासकार और पुरातत्त्ववेत्ता अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार-प्रसार हुआ, उससे पहले यहाँ जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत थी। प्राग्वैदिक काल का कोई साहित्य नहीं मिलता। किन्तु पुरातत्त्व की खोजों और उत्खनन के परिणामस्वरूप नये तथ्यों और मूल्यों पर प्रकाश पड़ा है। सन् १९२२ में और उसके बाद मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी। पश्चिमी पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त

^१ श्रीमद्भागवत ५।६

^३ मत्स्य पुराण अध्याय २४

^२ विष्णुपुराण अध्याय १७-१८

के लरकाना जिले में सिन्धु नदी तथा नरनहर के मध्य में मोहन-जो-दड़ो स्थित है। मोहन-जो-दड़ो का अर्थ है मृतको का टीला। यहाँ पर जल को स्पर्श करती हुई सात तहों तक खुदाई हुई थी। हड़प्पा मोण्टगोमरी जिले में एक स्थान है। मोहन-जो-दड़ो सिन्धु नदी के काठे में तथा हड़प्पा रावी के काठे में अवस्थित है। इन दोनों स्थानों में जिस सस्कृति की खोज हुई, वह सिन्धु घाटी की सभ्यता अथवा हड़प्पा सस्कृति कही जा सकती है।

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान मार्शल ने इस सभ्यता के सम्बन्ध में लिखा है—‘पाँच हजार वर्ष पूर्व पञ्जाब और सिन्धु प्रदेश में आर्यों से भी पहले ऐसे लोग रहते थे, जिनकी सस्कृति बहुत उच्च कोटि की थी और अपने समकालीन मेसोपोटामिया तथा मिश्र की सस्कृति से किसी बात में भी कम नहीं थी। हा, कई बातें उत्कृष्ट अवश्य कही जा सकती हैं।’

इन स्थानों पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, पहनाव-पोशाक, रीति-रिवाज, और धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इन स्थानों पर यद्यपि कोई देवालय-मंदिर नहीं मिले है, किन्तु वहाँ पाई गई मुहरों (Seals), ताम्रपत्रों, धातुमिट्टी तथा पत्थर की मूर्तियों से उनके धर्म और विश्वास का पता चलता है।

मोहन-जो-दड़ो में कुछ मुहरें ऐसी मिली हैं, जिन पर योग मुद्रा में योगी-मूर्तियाँ अंकित हैं। एक मुहर ऐसी भी प्राप्त हुई है, जिसमें एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा (खड्गासन) में ध्यान लीन है। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल है। वृक्ष का एक पत्ता मुख के पास है। योगी के चरणों में एक भक्त करवद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ खड़ा है। वृषभ के ऊपर वृक्ष है। योगी को वेष्टित किये हुए वल्लरी है। नीचे सामने की ओर सात योगी उसी कायोत्सर्ग मुद्रा में भुजा लटकाये ध्यान मग्न हैं। प्रत्येक के मुख के पास वल्लरी के पत्र लटक रहे हैं।

योगी के इस परिवेश और णरिंकर को आदि तीर्थंकर वृषभदेव के परिप्रेक्ष्य में जैन शास्त्रों के विवरण से तुलना करे तो अत्यन्त समानता के दर्शन होते हैं और कुछ रोचक तथ्य उभर कर सामने आते हैं। आचार्य जिन-सेन ने ‘आदि पुराण’ सर्ग १८ श्लोक ३, ६ और १० में भगवान की कायोत्सर्ग मुद्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। श्लोक १० में आचार्य लिखते हैं—‘उनकी दोनों बड़ी बड़ी भुजाएँ नीचे की ओर लटक रही थीं। और उनका शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा ऊँचा था। इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अग्रभाग में स्थित दो ऊँची शाखाओं से सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो।’

इसी सर्ग के श्लोक १२ में वर्णन है—‘मन्द मन्द वायु से समीपवर्ती वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग हिल रहे थे।’

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २५३ में वर्णन है—‘जो भगवान के चरणों की पूजा कर चुके हैं, जिनके दोनों घुटने पृथ्वी पर लगे हुए हैं और जिनके नेत्रों से हर्ष के आसू निकल रहे हैं, ऐसे सम्राट् भरत ने अपने उत्कृष्ट मुकुट में लगे हुए मणियों की किरण रूप स्वच्छ जल के समूह से भगवान के चरण-कमलों का प्रक्षालन करते हुए भक्ति से नम्र हुए अपने मस्तक से उन भगवान के चरणों को नमस्कार किया।’

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २१८—‘जिनका समय प्रगट नहीं हुआ है, ऐसे उन द्रव्यलिङ्गी मुनियों से घिरे हुए भगवान वृषभ देव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्प वृक्षों से घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्प-वृक्ष ही हो।’

इसी प्रकार का वर्णन महाकवि अर्हंदास विरचित ‘पुरुदेव चम्पू’ में भी मिलता है। मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त मुहर को सामने रखकर आदिपुराण और पुरुदेव चम्पू के भगवान वृषभदेव सम्बन्धी ध्यान विवरण को पढ़े तो दोनों में ऐसी समानता मिलेगी, मानो इन पुराणकारों ने उक्त मुहर की ही व्याख्या की हो। इसलिये उक्त मुहर और उक्त पौराणिक विवरण से तुलना करके मुहर की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं—

भगवान वृषभदेव कायोत्सर्गासन से ध्यानाखूँ खड़े हैं। कल्प वृक्ष हवा से हिल रहा है और उसका एक पल्लव भगवान के मुख के पास डोल रहा है। उनके सिर पर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्य यह त्रिरत्न रूप त्रिशूल है। सम्राट् भरत भगवान के चरणों में भक्ति से झुक कर आनन्दाश्रुओं से उनके चरण प्रक्षालन कर रहे हैं।

उनके पीछे वृषभ लाछन है। नीचे सात मुनि भगवान का अनुसरण करके कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानमग्न है। जो चार हजार राजा दिगम्बर मुनि बन गये थे, उन्हीं के प्रतीक स्वरूप ये सात मुनि हैं। वे भी कल्प वृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं और उनके मुख के पास भी पत्ता हिल रहा है।

संभवतः उक्त मुहर की तर्कसंगत व्याख्या इसके अतिरिक्त दूसरी नहीं हो सकती।

इस मुहर का अध्ययन करके प्रसिद्ध विद्वान् रा० व० प्रो० राम प्रसाद चन्दा ने जो व्याख्या प्रस्तुत की, उससे इतिहास वेत्ताओं को अपनी प्रचलित धारणा में संशोधन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। प्रो० चन्दा का आशय इस प्रकार है—

“सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देव-मूर्तियाँ न केवल योग-मुद्रा में अवस्थित हैं और उस प्राचीन युग में सिन्धु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं, उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रगट करते हैं। और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनो से सम्बन्धित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदिपुराण सर्ग १८ में ऋषभ अथवा वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्व संग्रहालय में एक शिलाफलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ मिलती हैं जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या १२ में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य कला में कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियाँ या ग्रीक कूरो प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं, जो सिन्धु घाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनो की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन ऋषभ का चिह्न है।”]

—माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२, पृ० १५५-१६०

प्रो० चन्दा के इन विचारों का समर्थन डॉ० प्राणनाथ विद्यालकार ने भी किया है। वे भी सिन्धु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभ देव की मानते हैं। इन विद्वानों ने सील न० ४४६ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। हमारी विनम्र मान्यता है कि सभी ध्यानस्थ प्रतिमाएँ जो सिन्धु घाटी में मिली हैं, जैन तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष और नाग ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताएँ हैं। विशेषतः कायोत्सर्गसिन जो जैन श्रमणों द्वारा ध्यान के लिए प्रयुक्त होता है।

T N Ram Chandran का अभिमत

[These two ricks place before us the truth that we are perhaps recognising in the Harappa statue a full fledged Jain Tirthankar in the characteristic pose of physical abandon (kayotsarga)]

[The statue under description is therefore a splendid representative specimen of this thought of Jainism at perhaps its very inception]

T N Ram Chandran

Director General Indian Archeological

Department

सिन्धु सभ्यता अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत सभ्यता थी। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सिन्धु सभ्यता का जो मूल्यांकन किया है, उसके बड़े रोचक निष्कर्ष निकले हैं। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं—“मुहर संख्या F G H फलक दो पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है, यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।”

प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामधारी सिंह दिनकर^१ इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—[‘मोहन-जो-दडो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभ देव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ सम्बन्धित थी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभ देव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व है।’]

इसी सन्दर्भ में डा० ऐम० ऐल० शर्मा^२ लिखते हैं—[‘मोहन-जो-दडो से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अंकित है, वह भगवान् ऋषभ देव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी। और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव थे। सिन्धु निवासी अन्य देव-ताओं के साथ ऋषभ देव की भी पूजा करते थे।’]

^१ सस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३६

^२ भारत में सस्कृति एवं धर्म, पृ० २०

२—जैन धर्म में तीर्थंकर-मान्यता

जैन परम्परा में सर्वोपरि उपासनीय देवाधिदेव अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक पंच परमेष्ठी माने गये हैं। अर्हन्त आत्म-साधना द्वारा ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों—

पंच-परमेष्ठी जो घातिया कर्म कहलाते हैं—के क्षय से वनते हैं। इन कर्मों के क्षय से उनकी आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य गुण प्रगट हो जाते हैं। अर्हन्त, अरहन्त, अरि-हन्त ये शब्द समानार्थक हैं। इन सबका एक ही अर्थ है—अरि अर्थात् शत्रु, हन्त अर्थात् नाश करने वाला। आत्मा के शत्रु कर्म हैं। उनका नाश करने वाला अर्हन्त कहलाता है। सिद्ध वह आत्मा कहलाती है, जिसने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति कर ली है अर्थात् जो ससार में सदा काल के लिए जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो चुका है। अर्हन्त और सिद्ध दोनों ही परमात्मा कहलाते हैं। अन्तर इतना ही है कि अर्हन्त सशरीरी परमात्मा हैं और सिद्ध अशरीरी परमात्मा हैं। आयु कर्म शेष रहने के कारण अर्हन्त के चार कर्म—जो अघातिया कर्म कहलाते हैं—अभी शेष हैं। जब उनके वे चारो अघातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब वे अशरीरी परमात्मा बन जाते हैं। वे ही सिद्ध कहलाते हैं।

शेष तीन परमेष्ठी—आचार्य, उपाध्याय और साधु साधक देश में हैं और उनका लक्ष्य आत्म-साधना द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त कर क्रमशः अर्हन्त और सिद्ध बनना है। साधु समस्त आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके ध्यानाध्ययन द्वारा आत्म-साधना करते हैं। उन साधुओं में विशिष्ट ज्ञानी साधु, जो अन्य साधुओं को अध्ययन कराते हैं, उपाध्याय कहलाते हैं। उन साधुओं में से विशिष्ट ज्ञानवान, आचार सम्पन्न, शासन-अनुशासन में सक्षम, व्यवहार कुशल साधु को साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका यह चतुर्विध सघ अपना धर्मनायक स्वीकार करके उसे आचार्य पद प्रदान करता है, वह आचार्य कहलाता है।

इस प्रकार साधु, उपाध्याय और आचार्य ये तीन और परमेष्ठी होते हैं। ये ही पंच परमेष्ठी कहलाते हैं। जैन परम्परा में मान्य महामन्त्र णमोकार में इन्हीं पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख न करके तत्तद् गुणों से विभूषित आत्माओं को ही परमेष्ठी माना गया है। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन धर्म में व्यक्ति-पूजा को स्थान नहीं दिया गया, अपितु वहाँ गुण-पूजा पर विशेष बल दिया गया है।

तीर्थंकर अर्हन्तो में से ही होते हैं। वे धर्म तीर्थ की पुनः स्थापना करते हैं, अतः तीर्थंकर कहलाते हैं। जो साधक किसी जन्म में ऐसी शुभ भावना करता है कि मैं जगत के समस्त जीवों का दुःख निवारण करूँ, उन्हें ससार के दुःखों से छुड़ाकर मुक्त करूँ तथा इस प्रकार की भावना के साथ सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करे, उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है अर्थात् वह आगामी जन्म में अथवा एक जन्म के पश्चात् तीर्थंकर बनता है। कोई जीव उसी जन्म में (चिदेह क्षेत्र में) तीर्थंकर बनता है। वे सोलह कारण भावनाएँ इस प्रकार हैं—

तीर्थंकर धर्म नेता हैं, धर्म-संस्थापक नहीं

- १ दर्शन विशुद्धि—पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति । यह गुण तीर्थंकर प्रकृति के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है ।
- २ विनय सम्पन्नता—देव, शास्त्र और गुरु तथा रत्नत्रय का हृदय में सम्मान करना ।
- ३ शील और व्रतों का निरतिचार पालन—व्रतों तथा व्रतों के रक्षक नियमों (शीलों) में दोष न लगने देना ।
- ४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—निरन्तर सत्य ज्ञान का अभ्यास, चिन्तन, मनन करना ।
- ५ अभीक्ष्ण सवेग—धर्म और धर्म के फल में अनुगम होना ।
- ६ शक्ति के अनुसार त्याग—अपनी शक्ति के अनुसार कर्माय का त्याग, ममत्त्व का त्याग तथा आहार, अभय, अपेक्षि और ज्ञान का दान करना ।
- ७ शक्ति के अनुसार तप—अपनी शक्ति को न छिपा कर अन्तरंग और बहिरंग तप करना
- ८ साधु समाधि—साधुओं का उपसंग दूर करना तथा समाधि पूर्वक मग्न करना
- ९ वैयवृत्य करण—व्रतों त्यागों और माधर्मों जनों की सेवा करना, दुर्गों का दूराय दूर करना
- १० अर्हन्त भक्ति—अर्हन्त भगवान की हृदय में भक्ति करना
- ११ आचार्य भक्ति—चतुर्विध सघ के नायक आचार्य की भक्ति करना
- १२ बहुश्रुत भक्ति—उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना
- १३ प्रवचन भक्ति—तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट जिनवाणी की भक्ति करना
- १४ आवश्यकपरिहाणी—छह आवश्यक कर्मों का सावधानी पूर्वक पालन करना
- १५ मार्ग प्रभावना—जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करना
- १६ प्रवचन वात्सल्य—साधर्मि जनों से निश्छल प्रेम करना

तीर्थंकर किसी नये धर्म की स्थापना नहीं करता, न वह किसी नये सत्य का उद्घाटन ही करता है। वह तो सनातन सत्य का ही प्ररूपण करता है। इसे ही तीर्थ-प्रवर्तन कहा जाता है। यह धर्म तीर्थ का प्ररूपक धर्मनेता होता है, धर्म सस्थापक नहीं होता। धर्म तो अनादि निधन है। उसकी स्थापना नहीं हो सकती। धर्म के कारण जो व्यक्ति तीर्थंकर बना है, वह किस नये धर्म की स्थापना करेगा क्योंकि धर्म तो उसमें पूर्व भी था। वस्तुतः धर्म से तीर्थंकर बनता है, तीर्थंकर से धर्म नहीं बनता। जो व्यक्ति से धर्म बनता है, वह धर्म नहीं, व्यक्ति की मान्यता है। वस्तु का स्वभाव धर्म है, वह तो वस्तु के साथ है। वह स्वभाव किसी के द्वारा बनाया नहीं जाता, केवल बताया जाता है। अतः तीर्थंकर धर्मनेता है, धर्म सस्थापक नहीं।

जैन धर्म में किसी ऐसे ईश्वर की मान्यता नहीं है जो अवतार लेता है। तीर्थंकर ईश्वर नहीं होते। वे तीर्थंकर कर्म के कारण तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है। तीर्थंकर नाम कर्म के कारण कल्याणक प्रत्येक तीर्थंकर के होते हैं। उनके ३४ अतिशय अर्थात् जन्म साधारण जैन धर्म में की अपेक्षा अद्भुत वाते होती है। (जन्म के समय १० अतिशय होते हैं, केवल ज्ञान हो जाने के अवतारवाद नहीं है अनन्तर १० अतिशय स्वयं होते हैं तथा १४ अतिशय देवों द्वारा सम्पन्न होते हैं। इन अतिशयों के अतिरिक्त तीर्थंकर के अपनी माता के गर्भ में आने से ६ मास पहले सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। तब वह अवधिज्ञान में ६ मास पश्चात् होने वाले तीर्थंकर के गर्भावतरण को जानकर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि ५६ कुमारिका देवियों को तीर्थंकर की माता का गर्भ-शोधन के लिए भेजता है तथा कुबेर को तीर्थंकर के माता-पिता के घर पर प्रतिदिन तीन समय साढ़े तीन करोड़ रत्न बरसाने की आज्ञा देता है। यह रत्नवर्षा जन्म होने तक अर्थात् १५ मास तक होती है। छह मास पीछे जब तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं, तब माता को रात्रि के अन्तिम प्रहर में १६ स्वप्न दिखाई देते हैं। यह सब पुण्य का फल है।

वस्तुतः पुण्य के कारण तीर्थंकर को जो लाभ होता है, उससे यह सूचित होता है कि वे तीर्थंकर बनेंगे। किन्तु जब केवल ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वे भाव-तीर्थ की स्थापना अथवा तीर्थ-प्रवर्तन करते हैं, तीर्थंकर तो वे तभी कहलाते हैं। गर्भ से तीर्थंकर द्रव्य दृष्टि से कहलाते हैं और भाव से धर्मतीर्थ-प्रवर्तन के कारण तीर्थंकर कहलाते

है। किन्तु वे तीर्थंकर बनते हैं अपनी साधना, तपस्या और पुरुषार्थ द्वारा। तीर्थंकर कर्म नष्ट करने पर परमात्मा बन जाते हैं, किन्तु कोई परमात्मा कर्म-बन्ध करके तीर्थंकर नहीं बनता। इसलिये तीर्थंकर अवतार नहीं कहलाते। सिद्ध परमात्मा बनने पर उनके कोई कर्म शेष नहीं रहता। जन्म, मरण, रोग, शोक चिन्ता आदि कर्म के फल हैं। जब कर्म ही नहीं तो ये आधि व्याधि भी नहीं हो सकती। इसीलिए जैन धर्म में अवतारवाद की कल्पना को कोई स्थान नहीं है।

तीर्थंकर चौबीस होते हैं। वर्तमान तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं—

तीर्थंकरों के नाम १ ऋषभदेव, २ अजितनाथ, ३ सभवनार्थ, ४ अभिनन्दनार्थ, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्वनाथ, ८ चन्द्रप्रभ, ९ पुष्पदन्त, १० शीतलनाथ, ११ श्रेयासनार्थ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ, १४ अनन्तनाथ, १५ धर्मनाथ, १६ शान्तिनाथ, १७ कुन्थुनाथ, १८ अरहनाथ, १९ मल्लिनाथ, २० मुनिसुव्रतनाथ, २१ नेमिनाथ, २२ नेमिनाथ (अरिष्टनेमि), २३ पार्श्वनाथ, २४ महावीर वर्धमान।

तीर्थंकरों के सम्बन्ध तीर्थंकरों के वंश, वर्ण, विवाह, आसन आदि की जानकारी करना भी अत्यन्त रोचक है। विशेष ज्ञातव्य होगा, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

वंश—भगवान् महावीर नाथवंश में उत्पन्न हुए। श्वेताम्बर परम्परा में इनका वंश णाय वंश (ज्ञात वंश) बताया है। भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म उग्रवंश में हुआ। मुनि सुव्रत नाथ और नेमिनाथ हरिवंश में उत्पन्न हुए। धर्मनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ कुरुवंश में पैदा हुए। शेष १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में हुए।

वर्ण—सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ तीर्थंकर हरित वर्ण के थे। मुनिसुव्रतनाथ और नेमिनाथ नील वर्ण थे। चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त का शरीर सफेद था। पद्मप्रभ और वासुपूज्य का रंग लाल था। शेष १६ तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण सतप्त स्वर्ण जैसा था।

विवाह—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पाँच तीर्थंकर वाल ब्रह्मचारी थे। इन्होंने विवाह नहीं किया था, कुमार अवस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। शेष तीर्थंकरों ने विवाह किया था।

इस विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में कुछ मान्यता-भेद हैं। दिगम्बर परम्परा मान्य 'तिलोय-पण्णत्ति' ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

‘नेमी मल्ली वीरो कुमार कालम्मि वासुपूज्जो य।

पासो वि य गहिद तपा शेष जिणा रज्ज चरमम्मि ॥४६७०

अर्थात् भगवान् नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाँच तीर्थंकरों ने कुमार-काल में और शेष तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

‘तिलोयपण्णत्ति’ की इस मान्यता का समर्थन दिगम्बर परम्परा के शेष सभी ग्रन्थों ने किया है। इसलिए दिगम्बर परम्परा में इन पाँच तीर्थंकरों को पंचकुमार अथवा पंच बालयति माना है। इन पंच बालयतियों की मूर्तियाँ भी अत्यन्त प्राचीन काल से उपलब्ध होती हैं।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में इस सम्बन्ध में दो मान्यताएँ प्रचलित रही हैं। ‘आवश्यक निर्युक्ति’ में जो कि प्राचीन आगम ग्रन्थ माना जाता है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

‘वीर अरिद्धनेमि पास मल्लि च वासुपूज्ज च।

एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३॥

रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवसेसु खत्तिअकुलेसु।

ण य इत्थिआभिसेआ कुमारवासमि पव्वइया ॥२४४॥

अर्थात् महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मल्लिनाथ, और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थंकर विशुद्ध क्षत्रिय राज-

कुल में उत्पन्न हुए और कुमार अवस्था में ही मुनि-दीक्षा ली। इन्होंने न तो विवाह किया, न इनका राज्याभिषेक हुआ। शेष सभी तीर्थंकरों का विवाह तथा राज्याभिषेक हुआ। पीछे उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की।

‘ण य इत्थिआभिसेआ’ का अर्थ टिप्पणी में लिखा है—‘स्त्री पाणिग्रहण इत्यादि रहिता इत्यर्थं अर्थात् स्त्री-पाणिग्रहण और राज्याभिषेक में रहित उक्त पांच तीर्थंकर थे।

आवश्यक निर्युक्तिकार की इस मान्यता के अनुसार ही स्थानाग, समवायाग, भगवती आदि सूत्रों में भी इन पांच तीर्थंकरों के विवाह का उल्लेख नहीं किया है। समवायाग सूत्र (न० १६) में आगारवास का उल्लेख करते हुए १६ तीर्थंकरों का घर में रहकर और भोग भोग कर दीक्षित होना बतलाया है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में ‘शेषास्तु पचकुमार भाव एवेन्याह च’ वाक्य के साथ ‘वीर अरिट्टणेमी’ नामक गाथा उद्धृत की है। ‘स्थानाग’ सूत्र के ४७६ वे सूत्र में भी पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित कहा है। ‘आवश्यक निर्युक्ति’ की २४८ वीं गाथा में भी इसी आशय को स्पष्ट किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

‘वीरो अरिट्टणेमी पासो मल्लिवासुपुज्जो य।

पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिमवयसि ॥

इस गाथा की टीका करने हुए टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है—‘प्रथम वयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिता शेषा पुन’ ऋषभस्वामि प्रभृतयो मध्यमे वयसि यौवनत्वलक्षणे वर्तमाना प्रव्रजिता।

यद्यपि इन सूत्रग्रन्थों में इन पांच तीर्थंकरों को स्पष्ट रूप से कुमार स्वीकार किया है तथा शेष तीर्थंकरों को घर में रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना लिखा है, जिसका अर्थ है कि उन पांच तीर्थंकरों ने भोग नहीं भोगे। किन्तु पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों—कल्पसूत्र, आवश्यक भाष्य, आचाराग आदि में पार्श्वनाथ और महावीर को विवाहित माना है, तथा वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ को बिना विवाह किये दीक्षित होना माना है।

आचार्य हेमचन्द्र ‘त्रिपण्डितशलाकापुरुष-चरित’ के वासुपूज्य-चरित्र में उल्लिखित पांच तीर्थंकरों में से महावीर के सिवाय चार को अविवाहित कहते हैं। यथा—

मल्लिनेमि. पार्श्व इति भाविनोऽपि त्रयो जिनाः।

अकृतोद्वाह सांभ्राज्याः प्रव्रजिष्यन्ति मुक्तये ॥१०३॥

श्री वीरश्चरमश्चार्हन्नीषद्भोग्येन कर्मणा।

कृतोद्वाहोऽकृतराज्य प्रव्रजिष्यति सेतस्यति ॥१०४॥

परन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ चरित पर्व ६ सर्ग ३ में हेमचन्द्र पार्श्व को विवाहित सूचित करते हैं। इस पर्व के २१० वे श्लोक का एक चरण इस प्रकार है—‘उद्वाह प्रभावतीम्’

इससे ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र को इस सर्ग की रचना करते समय अपनी पूर्व स्थापना का स्मरण नहीं रहा तथा उनके समक्ष कोई दूसरी भी परम्परा विद्यमान थी। उस परम्परा के अनुसरण के आग्रह के कारण ही उन्होंने पार्श्वनाथ का विवाह प्रभावती के साथ होना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकरों के विवाह के सम्बन्ध में दो मान्यताएँ प्रचलित रही हैं।

३—तीर्थकर और प्रतीक-पूजा

जन-मानस में तीर्थकरों के लोकोत्तर व्यवित्तत्व की छाप बहुत गहरी रही है। उन्होंने जन-जन के कल्याण और उपकार के लिए जो कुछ किया, उस अनुग्रह को जनता ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया। जब जो तीर्थकर विद्यमान थे, उनकी भक्ति, पूजा और उपदेश श्रवण करने के लिए जनता का प्रत्येक वर्ग उनके चरण-सान्निध्य में पहुँचता था और वहाँ जाकर अपने हृदय की भक्ति का अर्घ्य उनके चरणों में समर्पित करके अपने आपको धन्य मानता था। किन्तु जब उस तीर्थकर का निर्वर्ण हो गया, तब जनता का मानस उनके अभाव की तीव्रता के साथ अनुभव करता और अपनी भक्ति के पुष्प समर्पित करने को आकुल हो उठता था। जनता के मानस की इसी तीव्र अनुभूति ने प्रतीक-पूजा की पद्धति को जन्म दिया।

प्रतीक दो प्रकार के रहे—अतदाकार और तदाकार। ये दोनों ही प्रतीक अविद्यमान तीर्थकरों की स्मृति का पुनर्नवीकरण करते थे और जन-मानस में तीर्थकरों के आदर्श की प्रेरणा जागृत करते थे। इन दोनों प्रकार के प्रतीकों में शायद अतदाकार प्रतीकों की मान्यता सर्व प्रथम प्रचलित हुई। ऐसा विश्वास करने के कुछ प्रबल कारण हैं। सर्व प्रथम आधार मनोवैज्ञानिक है। मानव की बुद्धि का विकास क्रमिक रूप से ही हुआ है। प्रतीकों का जो रूप वर्तमान में है, वह सदा काल से नहीं रहा। हम आगे चलकर देखेंगे कि तदाकार मूर्ति-शिल्प में समय, वातावरण और बुद्धि-विकास का कितना योगदान रहा है। अतदाकार प्रतीक से ही तदाकार प्रतीक की कल्पना का जन्म संभव हो सकता है। दूसरा प्रबल कारण है पुरातात्विक साक्ष्य। पुरातात्विक साक्ष्य के आधार पर यह माना गया है कि तदाकार प्रतीक के रूप (मन्दिर और मूर्ति के रूप में) बहुत अधिक प्राचीन नहीं हैं और वे हमें ईसा पूर्व की सात-आठ शताब्दियों से पूर्वकाल तक नहीं ले जाते, जबकि अतदाकार प्रतीक इससे पूर्व के भी उपलब्ध होते हैं। यदि हड़प्पाकाल की शिरविहीन ध्यानमग्न मूर्ति को निर्विवाद रूप से तीर्थकर प्रतिमा होने की स्वीकृति हो जाती है तो तदाकार प्रतीक का काल ईसा पूर्व तीन सहस्राब्दी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उस काल में भी तदाकार प्रतीकों का बाहुल्य नहीं था। एक शिरहीन मूर्ति तथा कुछ मुद्राओं पर अंकित ध्यानलीन योगी जिन के रूपांकन के अतिरिक्त उस काल में विशेष कुछ नहीं मिला। ऐसी स्थिति में यह भी विचारणीय है कि हड़प्पा सस्कृति अथवा सिन्धु सभ्यता के काल से मौर्य काल तक के लम्बे अन्तराल में तदाकार प्रतीक-विधान की कोई कला-वस्तु क्यों नहीं मिली? इसका एक ही बुद्धिसंगत कारण हो सकता है कि तदाकार प्रतीक-विधान का विकास तब तक नहीं हो पाया और उसने पर्याप्त समय लिया।

जैनधर्म के अतदाकार प्रतीकों में स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाला, पुष्पपङ्कल आदि मुख्य हैं। अष्ट मंगल द्रव्य-यथा स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावन, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण-तथा तीर्थकरों के लाक्षणिक अतदाकार प्रतीकों में माने गये हैं। अष्ट प्रातिहार्य एव आयापट्ट भी महत्त्वपूर्ण प्रतीक माने गये हैं। कला के प्रारम्भिक काल में इन अतदाकार प्रतीकों का पर्याप्त प्रचलन रहा है।

किन्तु जैसे-जैसे कला-बोध विकसित हुआ, त्यो-त्यो प्रतीक की तदाकारता को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसी काल में तीर्थकरों की तदाकार मूर्तियों का निर्माण होने लगा। प्रारम्भ में प्रकृत भूमि से कुछ ऊँचे स्थान

पर देव-मूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारो ओर वेदिका (वाड) का निर्माण होता था। धीरे धीरे वेदिका को ऊपर से आच्छादित किया जाने लगा। यही देवायतन, देवालय या मन्दिर कहें जाने लगे। प्रारम्भ में ये देवायतन मोंधे सादे रूप में बनाये जाते थे। पुरातत्त्वावशेषों में कई मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओं आदि पर देवायतनों का अंकन मिलता है। उसमें ही ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मन्दिरों का रूप अत्यन्त सादा था। कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि के साथ साथ देवायतनों के स्वरूप में विकास होता गया। मूर्ति-स्थापना के स्थल पर गर्भगृह की परि-वेष्टित करने के अतिरिक्त उसके बाहर चांगों और प्रदक्षिणापथ का निर्माण हुआ। गर्भगृह के बाहर आच्छादित प्रवेशद्वार या मुख-मण्डप का निर्माण हुआ। धीरे धीरे गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा बाहर मण्डप, अर्धमण्डप, महा-मण्डप आदि का विधान हुआ। गुप्तकाल में आकर मन्दिर शिल्प और मूर्ति शिल्प के शास्त्रों की रचना भी होने लगी, जिनके आधार पर मन्दिर और मूर्तियों की रचना मुनियोजित ढंग में होने लगी।

प्रागैतिहासिक काल के पूर्व पाषाण युग में, जिसे जैन शास्त्रों में भोगभूमि बनाया है, मानव अपनी जीवन-रक्षा के लिए वृक्षों पर निर्भर था, वृक्षों से ही अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। कुलकरो

के काल में मानव की बुद्धि का विकास हुआ और उस काल में मानव को जीवन-रक्षा के लिए मन्दिर-निर्माण की सघर्ष करना पड़ा। अतः जीवन-रक्षा के कुछ उपाय ढूँढ़ने को बाध्य होना पड़ा। छुटपुट रहने पृष्ठभूमि के स्थान पर कवीलों के रूप में रहने की पद्धति अपनाई गई। किन्तु इस काल में भी वृक्षों की निर्भरता समाप्त नहीं हुई, बल्कि वृक्षों के कारण कवीलों में पारस्परिक सघर्ष भी होने लगे।

प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। वृक्ष घट रहे थे, मानव की आवश्यकताएँ बढ़ रही थी। कुलकरो ने वृक्षों का विभाजन और सीमांकन कर दिया। किन्तु फल वाले वृक्षों की सत्ता कम होते जाने में जीवन-यापन की समस्या उठ खड़ी हुई। वन्य पशुओं में रक्षा के लिए सुरक्षित आवास की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी थी।

तब ऋषभदेव का काल आया। इसे नागरिक सभ्यता का काल कहा जा सकता है। इस काल में तीर्थंकर ऋषभदेव ने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और मानव समाज को अग्नि, मृत्ति, कृषि, विद्या, वाणि-ज्य और शिल्प की शिक्षा दी। इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। भवन-निर्माण करने की विद्या बताई, जिसमें भवनों का निर्माण होने लगा। इस काल में सघटित जीवन की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने ग्रामों, पुरों, नगरों को जन्म दिया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और जीवन की प्रत्येक आवश्यकता-पूर्ति के लिए ऋषभदेव ने जो विविध प्रयोग करके मानव समाज को बताये और उसे व्यवस्थित नागरिक जीवन बिताने की जो शिक्षा दी, उसके कारण तत्कालीन सम्पूर्ण मानव समाज ऋषभदेव के प्रति हृदय से कृतज्ञ था। और जब ऋषभदेव ने ससार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि के रूप में घोर तप करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके पश्चात् समवशरण में, गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने धर्म-देशना दी। मानव समाज के लिए वह धर्म-देशना अश्रुतपूर्व थी, समवशरण की वह रचना अदृष्टपूर्व थी। उनका उपदेश कल्याणकारक था, हितकारक था, सुखकारक था और शान्तिकारक था। इससे सम्पूर्ण मानव-समाज के मन में तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अजस्र धारा बहने लगी। वे सम्पूर्ण मानव समाज के आराध्य बन गये और उसके मन में समवशरण की प्रतिकृति बनाकर उसमें ऋषभदेव की तदाकार मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने की ललक जागृत हुई।

इन्द्र ने अयोध्या का निर्माण करते समय नगर की चारो दिशाओं में और नगर के मध्य में पांच देवालये या जिनायतनों की रचना करके जिनायतनों का निर्माण करने और उसमें मूर्ति-स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक बार जब सम्राट भरत कैलाश गिरि पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति से ओतप्रोत था। उन्होंने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथों, गोपुरों, राजप्रासाद के द्वारों और झ्यौड़ियों में लटकवाये। यह मानवकृत प्रथम अतदाकार प्रतीक-स्थापना थी।

किन्तु इतने से सम्राट भरत के मन को सन्तुष्टि नहीं हुई। इसने भगवान की पूजा का उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता था। तब उन्होंने इन्द्र द्वारा बनाये गए जिनायतनों से प्रेरणा प्राप्त करके कैलाशगिरि पर ७२ जिनायतनों का निर्माण कराया और उनमें अनेक रत्नों की प्रतिमाये विराजमान कराई। मानव के इतिहास में तदाकार प्रतीक-स्थापना और उसकी पूजा का यह प्रथम सफल उद्योग कहलाया। अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असंगत न होगा कि नागर्गिक सभ्यता के विकास-काल की उपा-वेला में ही मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पौराणिक जैन साहित्य में मन्दिरों और मूर्तियों के उल्लेख विभिन्न स्थलों पर प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरों की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारों ओर परिखा खोदकर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लकाधिपति रावण इन मन्दिरों के दर्शनो के लिए कई बार आया था। लका में एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमें रावण पूजन किया करता था और लका-विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।

साहित्य में ई० पूर्व ६०० से पहले के मन्दिरों के उल्लेख मिलते हैं। भगवान पार्श्वनाथ के काल में किसी कुवेरा देवी ने एक मन्दिर बनवाया था, जो बाद में देवनिर्मित बौद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकाल कर ले जाने लगे, तब कुवेरा देवी ने इसे प्रस्तर खण्डों और ईंटों से ढक दिया। (विविध तीर्थ कल्प-मथुरापुरी कल्प)। स्थापत्य की इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख ककाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान मुनिसुव्रत की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित मिलता है।

(भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहा-मन्दिर (लयण) बनवाये और उनमें पार्श्वनाथ तीर्थकर की पापाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अव-तक विद्यमान हैं। 'करकण्डु चरित' आदि ग्रन्थों के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ-प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती थे।)

आवश्यक चूर्ण, निशीथ चूर्ण, वसुदेव हिण्डी, त्रिषण्डिशलाका पुरुष चरित आदि ग्रन्थों में एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—

(‘सिन्धु सौवीर के राजा उदायन के पास जीवन्त स्वामी की चन्दन की एक प्रतिमा थी। यह प्रतिमा भगवान महावीर के जीवन-काल में ही बनी थी। इसलिए उसे जीवन्त स्वामी की मूर्ति कहते थे। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपनी एक प्रेमिका दासी के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त करली और उसके स्थान पर तदनुरूप काष्ठ-मूर्ति स्थापित करा दी थी।)

किन्तु यह मूर्ति किसी देवालय में विराजमान थी, ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

आश्चर्य है कि पुरातत्त्व वेत्ताओं ने अभी तक इन मन्दिरों और मूर्तियों को स्वीकृति प्रदान नहीं की।

पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि आरम्भ में मूर्तियाँ मिट्टी की बनाई जाती थीं। बहुत समय तक इन

मृण्मूर्तियों का प्रचलन रहा। उत्खनन द्वारा जो पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध हुई है उसमें इन मृण्मूर्तियों का बहुत बड़ा भाग है। हड़प्पा, कौशाम्बी, मथुरा आदि में बहुसंख्या में मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। किन्तु मृण्मूर्तियाँ अधिक चिरस्थायी नहीं रहती थीं। अतः मृण्मूर्तियों को पकाया जाने लगा। प्रायः पकी हुई मृण्मूर्तियाँ ही विभिन्न स्थानों पर मिली हैं। किन्तु पकी मृण्मूर्तियाँ भी

स्थायित्व की दृष्टि से असफल रही, तब पाषाण की मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं।

प्रारम्भ में पाषाण-मूर्तियाँ किसी देवता या तीर्थकर की नहीं बनाई गईं, बल्कि यक्षों की पाषाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में बनाई गईं। इस काल में पाषाण में तक्षण-कला का विकास नहीं हुआ था। अतः यक्षों की जो प्रारम्भिक पाषाण-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमें सौन्दर्य-बोध का प्रायः अभाव है। एक प्रकार से ये मूर्तियाँ वेडौल हैं, मानो किन्हीं नौसिखिये हाथों ने इन्हे गढ़ा हो। मथुरा में ककाली टीला, परखम आदि स्थानों से इसी प्रकार की विशालकाय

वेडौल यक्ष-मूर्तियाँ मिली हैं। यह कहा जा सकता है कि मृण्मूर्तियों में तो कला के दर्शन होते हैं, किन्तु इन प्रारम्भिक यक्ष-प्रतिमाओं में कला नाम की कोई चीज नहीं मिलती। मृण्मूर्तियों में कला का विकास शनैः शनैः हुआ। इसलिए पापाण-मूर्तियों के प्रारम्भिक निर्माण-काल में भी मृण्मूर्तियों में वैविध्य के दर्शन होते हैं। स्त्री-पुरुषों के अलकृत केश-विन्यास, पशु-पक्षियों के रूप, पचशर कामदेव, विभिन्न मुद्राओं में स्त्रियों के नानाविध रूप इन मृण्मूर्तियों की विशेषता है। दूसरी ओर पापाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में अविकसित रूप में दीख पड़ती हैं।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) में नाला खोदते समय जो तीर्थकर-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इसका सिर नहीं है। कुहनियों और घुटनों से भी खण्डित है। किन्तु कन्धों और बाहों की मुद्रा से यह खड्गासन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से इसे मौर्यकाल (३२०-१८५ ई० पू०) की माना गया है। हड़प्पा में जो खण्डित जिन-प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है। और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कहीं अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव-मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनो ने किया। उन्होंने ही सर्व प्रथम तीर्थकर-मूर्तियों का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्हीं के अनुकरण पर शिव-मूर्तियों का निर्माण हुआ। विष्णु, बुद्ध आदि की मूर्तियों के निर्माण का इतिहास बहुत पश्चात्कालीन है।

(एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध में उदयगिरि की हाथीगुफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिंग नरेश खारवेल मगध नरेश वहसतिमित्र को परास्त करके छत्र-भृगारादि के साथ 'कलिंग जिन ऋषभदेव' की मूर्ति वापिस कलिंग लाये थे जिसे नन्द सम्राट कलिंग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत्प्रासाद बनवाकर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य-काल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिंग-जिन' कहा जाता था। 'कलिंग-जिन' इस नाम से ही प्रगट होता है कि सम्पूर्ण कलिंगवासी इस मूर्ति को अपना आराध्य देवता मानते थे। नन्द सम्राट इसे अपने साथ केवल एक ही उद्देश्य से ले गये थे और वह उद्देश्य था कलिंग का अपमान। लगभग तीन शताब्दियों तक कलिंगवासी इस अपमान को भूले नहीं और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिकार कलिंग सम्राट खारवेल ने किया। वह मगध को विजय करके अपने साथ अपने उस राष्ट्र-देवता की मूर्ति को वापिस ले गया। किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि अबतक एक भी पुरातत्त्व वेत्ता और इतिहासकार ने इस ऐतिहासिक मूर्ति के सम्बन्ध में कोई खोज नहीं की। आखिर ऐसी ऐतिहासिक मूर्ति कुमारी पर्वत से कब किस काल में किसने कहाँ स्थानान्तरित कर दी? यदि यह मूर्ति उपलब्ध हो जाय तो इससे लोहानीपुर की मूर्ति को प्राचीनतम मानने वाले पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत को न केवल असत्य स्वीकार करना पड़ेगा, वरन् मूर्ति-निर्माण का इतिहास और एक-दो शताब्दी प्राचीन मानना होगा। कुछ अनुसन्धानकर्त्ता विद्वानों की धारणा है कि जगन्नाथपुरी की मूर्ति ही वह 'कलिंग जिन' मूर्ति है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी साधिकार कुछ कहा नहीं जा सकता।)

इसके पश्चात् शक-कुशाण काल में मूर्ति कला का द्रुत वेग से विकास हुआ। इस काल में भी सर्व प्रथम तीर्थकर-मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मथुरा इस काल में मूर्ति-कला का केन्द्र था। तीर्थकर-मूर्तियों में भी अधिकांशतः पद्मासन ही बनाई जाती थी। इस काल में तीर्थकर-मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स, लाछन और अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन प्रायः नहीं देखता। तीर्थकर-मूर्तियों में अलकरण का भी अभाव था। (मूर्तियों की चरण-चौकी पर अभिलेख अंकित करने की प्रथा का जन्म हो चुका था। जिस बौद्ध स्तूप की चर्चा ऊपर आ चुकी है, उसकी सूचना भी भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की चरण-चौकी के अभिलेख में ही मिलती है। इस काल की तीर्थकर-प्रतिमाओं का अध्ययन करने पर एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। ईसा की इन प्रथम द्वितीय शताब्दियों में भी आदिनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थकरों के समान जनता में नेमिनाथ की भी मान्यता बहुप्रचलित थी। इस काल की भगवान् नेमिनाथ की तीन प्रतिमाएँ विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। एक में नेमिनाथ पद्मासन लगाये ध्यान-मुद्रा में अवस्थित हैं और उनके दोनों ओर

वलराम और कृष्ण खड़े हैं। दोनों ही द्विभुजी हैं। दूसरी प्रतिमा में ध्यानमग्न नेमिनाथ के एक ओर शेषनाग के अवतार के रूप में चतुर्भुजी वलराम खड़े हैं। उनके सिर पर शेषनाग का प्रतीक फण-मण्डप है। दूसरी ओर विष्णु के अवतार के रूप में चतुर्भुजी कृष्ण खड़े हैं। उनके हाथों में चक्र, पद्म आदि सुशोभित हैं। तीसरी मूर्ति अर्धभग्न है। इसमें नेमिनाथ ध्यानावस्थित हैं। एक ओर वलराम खड़े हैं। उनका हल-भूषण उनके कंधे पर विराजित है। इन मूर्तियों की प्राप्ति पुरातत्त्व की महान् उपलब्धि मानी जाती है। इससे नारायण कृष्ण की ऐतिहासिकता के समान उनके चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।)

इस काल में तीर्थकर-प्रतिमाओं के अतिरिक्त आयागपट्ट, स्तूप, यक्ष-यक्षी, अजमुख हरिनैगमेणी, सरस्वती, सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, मागलिक चिन्ह, धर्मचक्र, चैत्यवृक्ष आदि जैनकला की विविध कृतियों का भी निर्माण हुआ। इन कलाकृतियों के वैविध्य और प्राचुर्य से प्रभावित कुछ विद्वान् तो यह भी मानने लगे हैं कि जैन मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ ही मथुरा से हुआ है। यद्यपि यह सर्वांशतः सत्य नहीं है क्योंकि जैन मूर्तियों और जैन मूर्ति-पूजा के प्रमाण इससे पूर्वकाल में भी उपलब्ध होते हैं। इतना अवश्य माना जा सकता है कि जैन धर्म का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने में मथुरा की जैन कला का विशेष योगदान रहा है।

मथुरा की तीर्थकर-मूर्तियों के अध्ययन से एक परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है। (दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेद यद्यपि ईसा से तीन शताब्दी पूर्व हो चुका था, किन्तु उसका कोई प्रभाव मथुरा की तीर्थकर मूर्तियों पर नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ तक कि श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठित तीर्थकर-प्रतिमाएँ भी दिगम्बर ही बनाई जाती थीं। और यह क्रम उत्तर मध्य काल तक चलता रहा।)

कुपाणकालीन तीर्थकर-प्रतिमाओं के साथ यक्ष-यक्षी भी प्राप्त नहीं होते। प्रतिमाओं के आजू-बाजू खड़े चमर धारी यक्षों का भी अभाव मिलता है। इन यक्षों के स्थान पर इस काल की प्रतिमाओं में दाता, उपामक, उनकी पत्नी, मुनि और आर्यिकाओं का अकन मिलता है। जिन-प्रतिमा के सिंहासन के दोनों कोनों पर एक-एक सिंह और बीच में धर्मचक्र अंकित होता है जिसके दोनों ओर मुनि, अजिका, श्रावक और श्राविका अंकित रहते हैं।

कुपाण काल के पश्चात् गुप्त काल में जैन मूर्ति-कला का बहुत निखार हुआ। इस काल की मूर्तियों में सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया। मूर्ति के अलकरण पर बल दिया गया। अब मूर्तियों पर श्रीवत्स, लाछन और अष्ट प्रातिहार्य की योजना भी की जाने लगी। द्विमूर्तिकाय, त्रिमूर्तिकाय, सर्वतोभद्रिका, चतुर्विगति तीर्थकर प्रतिमाएँ, तीन चौबीसी, सहस्रकूट स्तम्भ आदि की संरचना होने लगी। मूर्तियों के केश-कुन्तल अत्यन्त कलापूर्ण बने। आदिनाथ के जटा-जूटो के नानाविध रूप उभरे। इस काल में तीर्थकरों के अतिरिक्त, तीर्थकर-माता, तीर्थकरों के सेवक-सेविका के रूप में यक्ष-यक्षियों, विद्या देवियों, पंचपरमेष्ठियों, भरत-बाहुवली की मूर्तियों का निर्माण भी प्रचुरता से हुआ। इनके अतिरिक्त अष्ट मंगलद्रव्य, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नवग्रह, नवनिधि, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी आदि के अकन की परम्परा भी विकसित हुई। इस काल में देवी-मूर्तियों के अलकरण और उनकी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया गया। कुछ देवियाँ द्विभुजी, चतुर्भुजी, षड्भुजी दशभुजी, वारहभुजी, विंशतिभुजी और चतुर्विंशतिभुजी भी मिलती हैं। देवगढ़ की विकसित मूर्ति-कला गुप्तकाल की ही देन है।

गुप्तकाल के पश्चात् गुर्जर-प्रतिहार काल में तथा कलचुरि काल में श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थकर-प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इससे पूर्व तक श्वेताम्बर प्रतिमाओं का विशेष प्रचलन नहीं मिलता। सभी जैन प्रतिमाएँ दिगम्बर रूप में ही बनाई जाती थीं।

इस प्रकार जैन मूर्तियों के रूप, शिल्प विधान और उनकी संरचना का एक क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इसमें उत्खनन में प्राप्त जैन मूर्तियों के काल-निर्णय में बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है।

मन्दिरों का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। (पुरातात्विक साक्ष्यों के

जैन मन्दिरों की संरचना अनुसार जैन मन्दिरों का निर्माण-काल जैन प्रतिमाओं के निर्माण-काल से प्राचीन और उनका क्रमिक प्रतीत नहीं होता। लोहानीपुर, थावस्ती, मथुरा आदि में जैन मन्दिरों के अवशेष विकास उपलब्ध हुए हैं, किन्तु अवतक सम्पूर्ण मन्दिर कहीं पर भी नहीं मिला। इसलिये प्राचीन जैन मन्दिरों का रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

(किन्तु गुहा-मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवीं आठवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। तेरापुर के लयण, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुहामन्दिर, अजन्ता-ऐलौरा और वादामी की गुफाओं में उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ इस बात के प्रमाण हैं कि गुफाओं को मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुहा-मन्दिरों का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप मात्र इतना ही था कि कहीं-कहीं गुफाओं में भित्ति-चित्रों का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण भित्ति चित्र सित्तन्नवासन आदि गुफाओं में अब भी मिलते हैं)।

गुहा मन्दिरों में सामान्य मन्दिरों की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा। इसीलिये हम देखते हैं कि ईसा पूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नहीं है, जबकि गुहा-मन्दिर अब भी मिलते हैं। लगता है, उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में मन्दिरों की सुरक्षा और स्थायित्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—प्रथम तो यह कि दक्षिण को उत्तर की अपेक्षा मूर्ति-विध्वंसक मुस्लिम आक्रान्ताओं का कोप कम सहना पड़ा। दूसरे यह कि दक्षिण में मन्दिरों की भव्यता और विशालता के साथ उसे चिरस्थायी बनाने की भावना भी काम करती रही। दक्षिण के अधिकांश मन्दिर राजाओं, रानियों, राज्याधिकारियों और राजश्रेष्ठियों द्वारा निर्मित हुए, जबकि उत्तर के अधिकांश मन्दिरों का निर्माण सामान्य जनो ने कराया। शक कृपाणकाल के मथुरा के मूर्ति-लेखों से प्रकट है कि वहाँ के आयागपट्ट, प्रतिमा और मन्दिर स्वर्णकार, वेश्या आदि ने ही बनवाये थे। ककुभग्राम का गुप्तकालीन मानस्तम्भ एक सुन्दर नमूना बनाया था। अस्तु !

(पुरातत्त्वज्ञों के मतानुसार महावीर-काल में जिनायतन नहीं थे, बल्कि यक्षायतन और यक्ष-चैत्य थे) श्वेताम्बर सूत्र-साहित्य में किसी जिनायतन में महावीर के ठहरने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, बल्कि यक्षायतनों में उनके ठहरने के कई उल्लेख मिलते हैं। इन यक्षायतनों और चैत्यों के आदर्श पर जिनायतन या जिन-मन्दिरों की रचना की गई, यक्ष-मूर्तियों के अनुकरण पर जिन-मूर्तियाँ निर्मित हुईं और यक्ष एवं नाग-पूजा पद्धति से जिन-मूर्तियों की पूजा प्रभावित हुई।

किन्तु दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल में इन्द्र ने अयोध्या में पाँच मन्दिरों का निर्माण किया, भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये, शत्रुघ्न ने मथुरा में अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोकों की रचना में कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों का पूजा-विधान जैन परम्परा में अवतक सुरक्षित है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में जिन चैत्यालयों की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्त्व को ज्ञात जैन मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप-विधान कैसा था, इसमें अवश्य मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ में मन्दिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पश्चात्काल में विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्कों पर मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप देखने में आता है। मथुरा की वेदिकाओं पर मन्दिराकृतियाँ मिलती हैं। जिन्हें विद्वानों ने मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप माना है। ई० पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा-जिनालयों में दो विशेषताएँ दिखाई देती हैं—प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि मन्दिर के चारों ओर वृक्षों की वेष्टनी बनाई जाती थी। इसे ही वेदिका कहा जाता था। इससे यह वेष्टनी प्रस्तरनिर्मित होने लगी।

(मौर्य और शुंग काल में जैन मन्दिरों का निर्माण अच्छी सख्या में होने लगा था। उस समय ऊँचे स्थान पर स्तम्भों के ऊपर छत बनाकर मन्दिर बनाये जाते थे। छत गोलाकार होती थी, पश्चात् अण्डाकार बनने लगी। शक-सातवाहन-काल (ई० पू० १०० से २०० ई०) में मन्दिरों का निर्माण और अधिक सख्या में होने लगा। इस काल में जैन मन्दिरों, उनके स्तम्भों और ध्वजाओं पर तीर्थंकर की मूर्ति बनाई जाने लगी। इस काल में

प्रदक्षिणा-पथ भी बनने लगे जो प्रायः काष्ठ की वेष्टनी से बनाये जाते थे। कुपाण काल में ये पापाण के बनने लगे। (प्रो० वो० ऐन० लूनिया-प्राचीन भारतीय सस्कृति, पृ० ५६५)।

(कुपाण काल में जैन मन्दिर और भी अधिक बनने लगे। इस काल में मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, कम्पिला और हस्तिनापुर प्रमुख जैन केन्द्र थे)।

(गुप्त काल (ई० चौथी से छठी शताब्दी) में मन्दिरों का निर्माण प्रचुरता से होने लगा। सौन्दर्य और मन्दिरों के अलकरण पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल में स्तम्भों को पत्रावली और मागलिक चिन्हों से अलकृत किया जाने लगा। तोरण और सिरदल के ऊपर तीर्थकर-मूर्ति बनाई जाने लगी। गर्भगृह के ऊपर शिखर बनने लगा। बाहर स्तम्भों पर आधारित मण्डप की रचना होने लगी। बाह्य भित्तियों पर मूर्तियों का अंकन होने लगा)।

ई० ६०० के बाद उत्तर भारत में 'नागर शैली' और दक्षिण भारत में 'द्रविड शैली' का विशेष रूप से विकास हुआ। शिखर के अलकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

प्रत्येक मन्दिर के आठ अंग होते हैं—अधिष्ठान, वेदी बन्ध, अन्तर पत्र, जघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते हैं—आमलक, आमलिका और कलश।

गुप्त काल के पश्चात् जो परिवर्तन हुए, उनसे मन्दिरों की चार शैलियाँ प्रकाश में आई—(१) गुर्जर प्रतिहार शैली (२) कलचुरि शैली (६) चन्देल शैली और (४) कच्छपघात शैली। गुर्जर प्रतिहार शैली में मन्दिर गोलाकार बनते थे। उन्हें पूर्णभद्र कहा जाता है। भीतर गर्भगृह और बाहर एक मण्डप बनता था। स्तम्भों पर घटपल्लव, कुमुद, खर्जूर पत्रावली, कमल, मलवारण, वसन्त पदिका आदि का अलकरण होता था। द्वार के अलकरण में घट पल्लव, हंस, कीर्तिमुख, गंगा-यमुना का अंकन होता था।

(कलचुरि शैली में पूर्व की अपेक्षा अधिक निखार आया। सप्त शाखा द्वारों का प्रारम्भ इसी काल में हुआ। द्वारों के तोरण पर सात पट्टिकाएँ होती थी जिन पर क्रमशः रूप, व्याल (शार्दूल), मिथुन, नवग्रह, दिक्पाल और कमल-कलश अंकित किये जाते थे। इस शैली में शिखरों की ऊँचाई बढ़ती गई। पचायतन शैली भी इस समय विकसित हुई)।

(चन्देल शैली में कलचुरि शैली की अपेक्षा हर तत्त्व में विकास हुआ। रति चित्रों का अंकन इसी काल में हुआ)।

(और कच्छपघात शैली में कला में अलंकार पक्ष प्रबल होता गया। भित्तियों पर मानव-मूर्तियों, अप्सराओं और योगिनियों के चित्र बनने लगे)।

इस प्रकार विभिन्न कालों में मन्दिरों के रूप और कला में विभिन्न परिवर्तन होते रहे। कला एकरूप होकर कभी स्थिर नहीं रही। समय के प्रभाव से वह अपने आपको मुक्त भी नहीं कर सकी। एक समय था, जब तीर्थकर प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य युक्त बनाई जाती थी, किन्तु आज तो तीर्थकरों के साथ अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन ही समाप्त हो गया है, जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है।

यह प्रकरण इसलिये दिया गया है, जिससे विभिन्न शैलियों के प्राचीन मन्दिरों के काल-निर्णय करने में पाठकों को मार्गदर्शक तत्वों की जानकारी हो सके।

तीर्थकर चौबीस है। प्रत्येक तीर्थकर का एक चिन्ह है, जिसे लाछन कहा जाता है। तीर्थकर-मूर्तियाँ प्रायः समान होती हैं। केवल ऋषभदेव की कुछ मूर्तियों के सिर पर जटाएँ पाई जाती हैं तीर्थकरों के चिन्ह तथा पार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर सर्प-फण होता है। सुपार्श्वनाथ की कुछ मूर्तियों के सिर के ऊपर भी सर्प-फण मिलते हैं। पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ के सर्प-फणों में साधारण सा

✓—मन्दिरों के विकास-प्रकरण में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के विभिन्न लेखों और डॉ० भागचन्द की 'देवगढ़' पुस्तक से सहायता ली गई है। इसके लिये दोनों विद्वानों के प्रति हम आभारी हैं।

अन्तर मिलता है। सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर पाच फण होते हैं और पार्श्वनाथ की मूर्तियों के सिर के ऊपर सात, नौ, ग्यारह अथवा सहस्र सर्प-फण पाये जाते हैं। इन तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। उनकी पहचान उनकी चरण-चौकी पर अंकित उनके चिन्हों से ही होती है। चिन्ह न हो तो दर्शक को पहचानने में बड़ा भ्रम हो जाता है (कभी कभी तो लाछनरहित मूर्ति को साधारण जन चतुर्थकाल की मान बैठते हैं, जबकि वस्तुतः श्रोवत्स लाछन और अष्ट प्रातिहार्य से रहित मूर्ति सिद्धों की कही जाती है)। इसलिये मूर्ति के द्वारा तीर्थंकर की पहचान करने का एकमात्र साधन तीर्थंकर-प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित उसका चिन्ह ही है। इसलिये तीर्थंकर-मूर्ति-विज्ञान में चिन्ह या लाछन का अपना विशेष महत्त्व है।

इन चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह निम्न प्रकार हैं—

ऋषभदेव का वृषभ, अजितनाथ का हाथी, सभवाथ का अश्व, अभिनन्दननाथ का वन्दर, सुमतिनाथ का चक्रवाक पक्षी, पद्मप्रभु का कमल, सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक, चन्द्रप्रभ का अर्धचन्द्र, पुष्पदन्त का मगर, शीतलनाथ का श्री वृक्ष, श्रेयान्सनाथ का गेडा, वासुपूज्य का महिष, विमलनाथ का शूकर, अनन्तनाथ का सेही, धर्मनाथ का वज्रदण्ड, शान्तिनाथ का हिरण, कुन्थुनाथ का बकरा, अरनाथ का मछली, मल्लिनाथ का कलश, मुनिसुव्रतनाथ का कछुआ, नमिनाथ का नीलकमल, नेमिनाथ का शख, पार्श्वनाथ का सर्प और महावीर का सिंह लाछन था।

ये चिन्ह दाहिने पैर के अंगूठे में होते हैं। इन चिन्हों के सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि इन चिन्हों का कारण क्या है? ये तीर्थंकर-प्रतिमाओं पर कबसे और क्यों उत्कीर्ण किये जाने लगे? इस सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है?

इस सम्बन्ध में शास्त्रों विभिन्न मत पाये जाते हैं। यहाँ उनमें से कुछ देना उपयुक्त होगा।

(इन्द्र भगवान के अभिषेक के समय उनके शरीर पर जिस वस्तु की रेखाकृति देखता है, उसी को उनका लाछन घोषित कर देता है)।

—हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, काण्ड १२ श्लोक ४७-४८

—प० आशाधर, अनंगार धर्मावृत ८।४१

जम्मण काले जस्स दु दाहिण पायम्मि होय जो चिन्ह ।

तं लवखण पाउत्तं आगमसुत्ते सुजिण वेहे ॥

(अर्थात् तीर्थंकर के दाये पैर के अंगूठे पर जन्म के समय इन्द्र जो चिन्ह देखता है, इन्द्र उसी को उनका लाछन निश्चित कर देता है)।

—त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ० ५६

इन्हीं से मिलते जुलते विचार अन्य आचार्यों के भी हैं।

मूर्ति निर्माण के प्रारम्भिक काल में मूर्तियों पर लाछन उत्कीर्ण करने की परम्परा नहीं रही। लोहानीपुर की मौर्यकालीन या शक-कुषाण कालीन मूर्तियों पर लाछन नहीं पाये जाते। बाद के काल में लाछनों के अंकन की परम्परा प्रारम्भ हुई और इनका अंकन मूर्ति के पाद-पीठ पर किया जाने लगा।

(जैन प्रतीकों में मन्दिरों में प्रायः निम्नलिखित प्रतीक उपलब्ध होते हैं—आयागपट्ट, स्तूप, धर्मचक्र, स्वस्तिक

नन्दावर्त, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, श्रोवत्स, सहस्रकूट, चैत्य, सर्वतोभद्रिका, द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका
जैन प्रतीकों का
परिचय
त्रिरत्न, अष्टमंगल, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नवनिधि, नवग्रह, मकरमुख, शार्दूल, कीर्ति-
मुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी, चरण, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाल, आम्रगुच्छक
सर्प, जटा, लाँछन, पद्मासन, खड्गासन, यक्ष-यक्षी)

आयागपट्ट—वर्गाकार या आयताकार एक शिलापट्ट होता है, जो पूजा के उद्देश्य से स्थापित किया जाता था। इस पर कुछ जैन प्रतीक उत्कीर्ण होते थे। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर-मूर्ति भी होती थी। बुहलर के अनुसार अर्हतों की पूजा के लिए स्थापित पूजापट्ट को आयाग पट्ट कहते हैं। ये स्तूप के चारों द्वारों में से प्रत्येक के सामने स्थापित किये जाते थे।

स्तूप—यह लम्बोत्तरी आकृति का होता था और इसमें चार वेदिकायें होती थी।

धर्मचक्र—गोल फलक में बना हुआ चक्र होता है, जिसमें बारह या चौबीस आरे होते हैं। कोई धर्मचक्र हजार आरों का भी होता है। मूर्तियों की चरण-चौकी पर इसका अकन प्रायः मिलता है।

स्वस्तिक—एक दूसरी को काटती हुई सीधी रेखाये, जो सिरे से मुड़ी होती है। इसका प्रयोग स्वतन्त्र भी होता है और अष्ट मंगल द्रव्यों में भी होता है।

नन्द्यावर्त—(तन्त्र का अर्थ सुखद या मांगलिक है और आवत का अर्थ घेरा है। इसका रूप स्वस्तिक जैसा होता है किन्तु इसके सिरे एकदम घुमावदार होते हैं, जबकि स्वस्तिक का मोड़ सीधा होता है)।

चैत्यस्तम्भ—एक चौकोर स्तम्भ होता है, जिसकी चारों दिशाओं में तीर्थकर-प्रतिमायें होती हैं और स्तम्भ के शीर्ष पर लघु शिखर होता है।

चैत्यवृक्ष—(प्रत्येक तीर्थकर को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान होता है, वह उसका चैत्यवृक्ष कहलाता है। किन्तु कला में प्रायः अशोक वृक्ष का ही चैत्यवृक्ष के रूप में अकन हुआ है। बहुधा वृक्ष के ऊपरी भाग में तीर्थकर-प्रतिमा भी अकन होती है)।

श्रीवत्स—(तीर्थकर की छाती पर एक कमलाकार चिन्ह होता है शक-कुषाण काल तक तीर्थकर प्रतिमाओं पर श्रीवत्स चिन्ह का अकन नहीं मिलता। सम्भवतः गुप्त काल से इसका प्रचलन प्रारम्भ हुआ)।

सहस्रकूट—एक चौकोर पाषाण स्तम्भ में १००८ मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती हैं, वह सहस्रकूट कहलाता है।

सर्वतोभद्रिका—एक स्तम्भ में चारों दिशाओं में तीर्थकर-प्रतिमा होती हैं। कभी तो एक स्तम्भ में चारों प्रतिमाएँ एक ही तीर्थकर की होती हैं और किसी में विभिन्न तीर्थकरों की चार प्रतिमाएँ होती हैं।

द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका—एक ही फलक में दोनों ओर एक-एक मूर्ति होती है। कभी कभी एक ही ओर दो तीर्थकरों की मूर्तियाँ होती हैं। इसी प्रकार एक ही फलक में एक ओर एक तीर्थकर की और दूसरी ओर दो तीर्थकरों की मूर्तियाँ होती हैं। किसी फलक में एक ही ओर तीन तीर्थकरों की मूर्तियाँ होती हैं।

त्रिरत्न—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये तीन रत्न कहे जाते हैं, जिन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहते हैं। इनके प्रतीक रूप में एक फलक में एक ऊपर और दो नीचे छेद कर दिये जाते हैं। मथुरा में ऐसे त्रिरत्न मिले हैं।

अष्ट मंगल द्रव्य—स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानकय, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण ये अष्ट मांगलिक कहलाते हैं। इनके स्थान पर कहीं छत्रत्रय, चमर, दर्पण, भृङ्गार, पखा, पुष्पमाल, कलश, स्वस्तिक और भारी ये आठ वस्तुएँ बताई हैं।

अष्ट प्रातिहार्य—कल्पवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि, सिंहासन, दिव्य ध्वनि, छत्र, चमर और भामण्डल ये तीर्थ-करों के अष्ट प्रातिहार्य होते हैं। प्रतिमाओं पर इनका अकन गुप्तकाल से होने लगा है।

सोलह स्वप्न—तीर्थकर माता गर्भ धारण करने से पूर्व रात्रि में सोलह शुभ स्वप्न देखती है। वे इस प्रकार हैं—
१ हाथी, २ बैल, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ दो पुष्पमाला, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ दो मछलियाँ, ९ जल से पूर्ण दो स्वर्णकलश, १० कमलों से परिपूर्ण सरोवर, ११ समुद्र, १२ सिंहासन, १३ देव विमान, १४ धरणेन्द्र का भवन १५ रत्नराशि, १६ निर्धूम अग्नि)।

नवनिधि—नैसर्ग, पिंगल, भाजुर, माणवक, सदपाण्डक, कालश्री, वरतत्त्व और तेजोद्भासि महाकाल ये नौ निधियाँ होती हैं। समवसरण के भीतरी और बाहरी गोपुरों में नवनिधि से शोभित अष्ट मंगल द्रव्य आदि रहते हैं। नव निधि चक्रवर्ती के भी होते हैं। अतः चक्रवर्ती भरत की मूर्तियों के साथ कहीं कहीं नौ घटों के रूप में नव निधियों का अकन मिलता है।

नवग्रह—१ रवि, २ चन्द्र, ३ कुज, ४ बुध, ५ गुरु, ६ शुक्र, ७ शनि, ८ राहु, ९ केतु ये नवग्रह कहलाते हैं। इनका अकन द्वारों, तीर्थकर-मूर्तियों, देव-देवी मूर्तियों के साथ भी हुआ है और स्वतन्त्र भी हुआ है)।

मकर मुख—मन्दिरों की द्वार देहरियों के मध्य में तथा स्तम्भों पर मिलते हैं।

शार्दूल—शार्दूल के पिछले पैरों के पास और अगले पैरों की लपेट में एक मनुष्य दिखाई पड़ता है और

शार्दूल की पीठ पर आयुध लिए कोई मनुष्य बैठा रहता है।

कीर्तिमुख—इसका अकन प्रायः स्तम्भो, तोरणो और कोष्ठको आदि में होता है। इनके मालाएँ, लडियाँ और शृङ्खलाएँ लटकती दिखाई पड़ती हैं।

कीचक—स्तम्भ के शीर्षों पर बैठा हुआ मनुष्य छत का भार वहन करता है।

गंगा यमुना—मन्दिर के द्वारों पर एक और मकरवाहिनी गंगा होती है और दूसरी और कच्छपवाहिनी यमुना होती है।

शेष प्रतीक स्पष्ट ही हैं।

द्वितीय परिच्छेद

भगवान ऋषभदेव



१ भगवान ऋषभदेव से पूर्वकालीन परिस्थिति

कालचक्र (प्रकृति परिवर्तनशील है। परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपने मूल स्वरूप की धुरी पर प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है। वह मूल स्वरूप की धुरी से कभी विचलित या च्युत नहीं होती किन्तु उसके रूपों का नित परिणमन होता रहता है। पूर्वरूप नष्ट होता है, नया रूप उत्पन्न होता है। इस विनाश और उत्पत्ति के चक्र में भी वस्तु का मूल स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। हर वस्तु का यही स्वभाव है)।

(प्रकृति में भी नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को लेकर ही यह सृष्टि चल रही है। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न कभी उत्पत्ति होती है। सदा आशिक विनाश होता रहता है और उस विनाश में से ही आशिक उत्पाद होता रहता है। सृष्टि इसी विनाश और उत्पाद के चक्र में भी अपने मूल तत्त्वों को सजो कर ज्यों का त्यों रखे हुए है)।

(काल का चक्र भी इसी प्रकार सदा घूमता रहता है। परिवर्तनों के इस चक्र में कहाँ आदि है और कहाँ अन्त है, कोई नहीं कह सकता। निरन्तर घूमते रहने वाले चक्र में आदि और अन्त संभव भी नहीं है। इस चक्र में काल के एक बजा, दो बजा आदि भेद भी नहीं किये जा सकते। वह तो अविभाज्य है, अखण्ड है। किन्तु व्यवहार की सुविधा के लिए हम समय का विभाग कर लेते हैं)।

इसी व्यवहार की सुविधा के लिए जैन धर्म में काल को दो भागों में विभाजित किया गया है, जिनके नाम हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग किये गये हैं—सुपमा-सुपमा, सुपमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा-दुषमा, दुषमा। काल के ये बारह भेद हैं। इन बारह कालों का एक पूरा चक्कर कल्प कहलाता है। प्रकृति स्वयं ही एक कल्प के आधे भाग में निरन्तर उत्कर्षशील बनी रहती है। मनुष्यों की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रूप आदि सभी में उत्कर्ष होता रहता है। यह काल उत्सर्पिणी कहलाता है। जिस काल में आयु, अवगाहना, बुद्धि आदि में हीनता बढ़ती जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। आजकल अवसर्पिणी काल है और उसका दुषमा नामक पाचवाँ भाग चल रहा है।

(इस काल-विभाग को हम घड़ी की सुई से आसानी से समझ सकते हैं। घड़ी के डायल में सुई बारह के बाद छह तक नीचे की ओर जाती है और छह के बाद बारह बजे तक ऊपर की ओर जाती है। बिलकुल इसी प्रकार अवसर्पिणी काल में जीवों में हर बात में हीनता आती जाती है और उसके बाद उत्सर्पिणी काल में जीवों में हर बात में उन्नति होती है)।

व्यावहारिक सुविधा के लिए कल्प का प्रारम्भिक काल सृष्टि का आदिकाल और उस काल के मनुष्य को सृष्टि का आदि मानव कह लेते हैं। वस्तुतः तो न सृष्टि का कोई आदि काल ही होता है और न कोई आदि मानव ही होता है।

कल्प के प्रारम्भ में मनुष्य अविकसित था। वह ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से अपरिचित था। उस काल में सामाजिक बोध भी नहीं था। (इसलिए वह न-भाई ही पति-पत्नी के रूप में रहने लगते थे। इसे 'युगलिया काल' कहा जाता है। वे जीवन-निर्वाह के लिए वृक्षों पर निर्भर रहते थे। उनकी जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ वृक्षों से ही पूरी होती थी। उनकी इच्छाओं की पूर्ति वृक्ष ही करते थे। इसलिए उन वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा जाता था। उनकी इच्छाएँ दस प्रकार की होती थी। उन दस प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति वृक्षों से होती थी, अतः कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे, ऐसा माना जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. मद्याङ्ग, २. तूर्याङ्ग, ३. विभूषाङ्ग, ४. माल्याङ्ग, ५. ज्योतिरङ्ग, ६. दीपाङ्ग, ७. गृहाङ्ग, ८. भोजनाङ्ग, ९. पात्राङ्ग, १०. वस्त्राङ्ग। ये सब अपने-अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते थे।

मानव की इस संस्कृति को हम वन-संस्कृति कह सकते हैं। इसे भोगयुग भी कहा गया है क्योंकि उस काल का मानव जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म नहीं करता था, उसे कल्प वृक्षों से यथावश्यक सब वस्तुएँ मिल जाती थी। उनका यथेच्छ भोग करता था। आधुनिक भाषा में इस युग को हम पूर्व पापाण युग कह सकते हैं। उस समय गाव, नगर, मकान, जाति, समाज, राज्य आदि कोई व्यवस्था नहीं थी। उनके सामने कोई समस्या भी नहीं थी अतः युद्ध भी नहीं होते थे। मानव और पशु सब साथ रहते थे। दोनों को किसी से या परस्पर भय नहीं था।

प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। वे तत्क्षण आखों की पकड़ में न आ पावे, किन्तु कुछ समय पश्चात् उनका फल अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उस युग के मानव के समक्ष प्रकृति के नित नूतन परिवर्तनों के कारण कुछ प्रश्न-चिन्ह उभरने लगे। समय बीतता गया तो ऐसा भी समय आया जब उसके समक्ष समस्याएँ भी आने लगीं। प्रश्न-चिन्ह उभरे अद्भुत, अदृष्टपूर्व परिवर्तनों को लेकर, समस्याएँ उभरी आवश्यकताओं में नित नई बाधा उत्पन्न होने पर। वह अवोध मानव स्वयं समाधान खोज नहीं सकता था। अभी उसका बौद्धिक विकास ही कहाँ हो पाया था। किन्तु उसे समाधान तो चाहिए ही। (जिन्होंने उसको समाधान दिया, जीवन की राह में नेतृत्व दिया, वे मानव असाधारण थे—बुद्धि, विवेक और संस्कारों में। वे ही मानव 'कुलकर' कहलाये। उन्हें मनु भी कहा गया)।

उस समय का मानव सरल था। वह सहज जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन समगति से चल रहा था। किन्तु प्रकृति में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे थे। वह इनका अभ्यस्त नहीं था। उन परिवर्तनों को देखकर वह चौक उठता, भयभीत हो जाता। तब कुलकरो ने इस अवस्था में उसका मार्ग-दर्शन किया।

चौदह कुलकर इस प्रकार के कुलकर १४ हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. प्रतिश्रुति, २. उनका पुत्र सन्मति, ३. उनका पुत्र क्षेमकर, ४. उनका पुत्र क्षेमधर, ५. सीमकर, ६. सीमधर, ७. विपुल वाहन, ८. चक्षुष्मान, ९. यशस्वी, १०. अभिचन्द्र, ११. चन्द्राभ, १२. मरुदेव, १३. प्रसेनजित, १४. और उनके पुत्र नाभिराज। इस प्रकार ये सभी आनुवंशिक परम्परा में उत्पन्न हुए थे। ये कुलकर गंगा और सिन्धु महानदियों के बीच दक्षिण भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे।

इन कुलकरो के कार्य 'त्रिलोकसार' ग्रन्थ में इस प्रकार बताये हैं—

इण ससितारासावदवि भय दडादि सीमचिण्ह कदिं ।

तुरगादि वाहण सिसुमुहदसण णिभयं वेत्ति ॥७६६॥

प्रथम कुलकर ने चन्द्र-सूर्य के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। द्वितीय कुलकर ने तारों के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। तीसरे ने क्रूर मृगों के भय को दूर किया। चौथे ने हिराक पशुओं का भय दूर किया। और उसके लिए दण्ड प्रयोग बताया। पाचवे ने अल्प फलदायी कल्पवृक्षों को लेकर झूठ होने लगे तो सीमा

बनाई। फिर भी भ्रष्ट दूर नहीं हुए तो छठवे कुलकर ने सीमा-चिन्ह लगाये। सातवें कुलकर ने हाथी, घोड़े आदि को वश में करके उन पर सवारी करना बताया। पहले माता-पिता बच्चों के उत्पन्न होते ही मर जाते थे, किन्तु अब कुछ समय जीवित रहने लगे और अपने शिशुओं का मुख देखकर भयभीत होने लगे तो आठवे कुलकर ने उन्हें समझाकर उनका भय दूर किया।

आसीवादादि ससि पट्टु दिहि केलि च कदिचिदिण ओत्ति ।

पुत्तेहि चिरंजीवण सेदुवहितादि तरणविहि ॥८००॥

नवम कुलकर ने शिशुओं के लिए आशीर्वाद देना बताया। दशम ने शिशुओं के साथ कुछ दिन तक क्रीडा करना बताया। एकादश ने पुत्रों के साथ बहुत समय तक रहने का भय निवारण किया। द्वादश ने नदी आदि पार करना सिखाया।

सिक्खति जराउ छिदि णाभि विणासिद चाव तडिदादि ।

चरिमो फलअकदोसहिभुत्ति कम्मावणी तत्तो ॥८०१॥

—तेरहवें कुलकर ने जरायु छेदन बताया। चौदहवें कुलकर ने नाभि-छेदन-विधि सिखाई। बिजली गिरने और बिजली का भय दूर किया, फलाकृतौषध भक्षण करना सिखाया। तदनन्तर कर्मभूमि प्रवर्तित हुई।

इन कुलकरो ने समाज-नियमन और अनुशासन के लिये दण्ड-व्यवस्था भी निर्धारित की थी। यदि किसी से कोई अपराध हो जाता था तो प्रथम कुलकर से पाँचवें कुलकर तक के काल में अपराधी को 'हा' कहकर दण्ड देते थे। छठवें से दसवें तक कुलकर अपराधी को इससे कुछ कठोर दण्ड देते थे और उससे 'हा मा' कहते थे। ग्यारहवें से चौदहवें कुलकरो ने उस काल की दृष्टि से इससे भी कठोर दण्ड की व्यवस्था की। वे अपराधी को 'हा मा धिक्' कहकर वर्जना करते थे।

युगलिया समाज का वर्णन पढ़कर हमें ऐसा लगता है कि उस समय मनुष्य जगलो में कबीले बनाकर रहते थे। समाज, राज्य, नगर, जाति और वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। अतः ये प्रकृति-पुत्र प्रकृति की गोद में फलते फूलते थे। समाज-व्यवस्था नहीं थी। आवश्यकतायें सीमित थी, साधन असीम थे। इसलिए शोषण, छीना भ्रष्टा, द्वन्द्व आदि भी नहीं थे। प्रकृति के अनुरूप उनका जीवन सहज था। इसलिए पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म का भी बोध नहीं था। जो चाहते थे, वह मिल जाता था। कर्म जीवन में आ नहीं पाया था। अतः इस युग को भोग-युग कहा जाता है।

कुलकरो को मनु भी कहा जाता है। उन मनुओं की सन्तान को ही मानव या मनुष्य कहा जाने लगा है।

प्रकृति का यह वैचित्र्य ही कहना होगा कि उस युग में पुत्र और पुत्री युगल उत्पन्न होते थे। पुत्रोत्पत्ति के तत्काल बाद माता-पिता का देहान्त हो जाता था। प्रकृति में धीरे धीरे परिवर्तन हुआ और पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् माता-पिता जीवित रहने लगे। मरुदेव कुलकर के काल तक युगल ही उत्पन्न होते रहे। किन्तु उसके पश्चात् अकेली सन्तान भी होने लगी। सर्वप्रथम मरुदेव के एक पुत्र ही उत्पन्न हुआ। मरुदेव ने उसका विवाह भी किया था।

नाभिराज तेरहवें कुलकर प्रसेनजित के पुत्र थे। वे भरत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए थे। वे विश्व भर के क्षत्रियों में श्रेष्ठ थे। वे भोगभूमि और अन्तिम कुलकर कर्मभूमि के सन्धि-काल में उत्पन्न हुए थे। उस समय दक्षिण भरत क्षेत्र में कल्पवृक्ष रूप नाभिराज प्रासाद नष्ट हो गये थे। केवल एक ही कल्पवृक्ष रूप प्रासाद अवशिष्ट रह गया था और वह था नाभिराज का। वह पृथ्वीनिर्मित-प्रासाद बन गया था। उस प्रासाद का नाम सर्वतोभद्र था और वह इक्यासी खण्ड का था। उन्होंने ही उत्पन्न बालको के नाभि-नाल को शस्त्र-क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया। इसीलिये उन्हें 'नाभि' कहा जाता था।

उनके काल में कल्पवृक्ष नि शेषप्राय हो गये। मानव के समक्ष नये प्रश्न उभरने लगे, उनका हल होना

युग की मांग थी। नाभिराज ने बड़े विवेक और धैर्य के साथ उन प्रश्नों का समाधान दिया। वे स्वयं त्राणमह वन गये। इसीलिये उन्हें क्षत्रिय कहा गया। क्षत्रिय ही नहीं, विश्व भर के क्षत्रियों में श्रेष्ठ कहा गया। आचार्य जिनसेन ने उन्हें 'विश्वक्षत्रगणाग्रणी' कहा है। इसीलिए आगे चलकर क्षत्रिय शब्द 'नाभि' अर्थ में रूढ़ हो गया। अमरकोपकार ने 'क्षत्रिये नाभि' और अभिधान चिन्तामणि के कर्ता आचार्य त्रेमचन्द्र ने 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा। उन्होंने अपने पुरुषार्थ और विवेक से एक नये युग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उनके नाम पर इस आर्यखण्ड का नाम 'नाभिखण्ड' हो गया। नाभि को अजनाभ भी कहते हैं। अतः इस खण्ड को 'अजनाभ वर्ष' भी कहा जाता था।

वैदिक पुराणों में भी इस बात का समर्थन मिलता है। 'कन्द पुराण में बताया है—

हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम् ॥१२॥३७॥५५

श्रीमद्भागवत में इस सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है—

'अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥५॥७॥३

डॉ० अवधविहारिलाल अवस्थी ने 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप' में लिखा है—'सप्त द्वीपों वाली पृथ्वी में जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो सन्यासी हो गये। और सात पुत्रों ने मान महाद्वीपों में आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ लड़के जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में मे हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही 'नाभिखण्ड' कहा गया।'

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'मार्कण्डेय पुराण साम्प्रतिक अध्ययन' के पादटिप्पण में लिखा है—'स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के अपभ और अजनाभदेव के सौ पुत्र हुए। जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश 'अजनाभ वर्ष' कहलाता था।'

काल तीव्रगति से भाग रहा था। भोगभूमि का अन्न हो रहा था। प्रकृति के अन्दर कर्म भूमि की प्रसव वेदना हो रही थी। प्रकृति में चंचलता व्याप्त थी। निन नये और अनोखे परिवर्तन हो रहे थे। नाभिराज द्वारा युग-प्रवर्तन आकाश काले बादलों से भर गया। बादलों में एक ओर इन्द्रधनुष का सतरंगी वितान था, दूसरी ओर रह रह कर बिजली कौंध रही थी। बादल विकट गर्जना कर रहे थे। थोड़ी देर में मूसलाधार वर्षा होने लगी। शीतल पवन के झकोरे चल रहे थे। आज प्रकृति में प्रथम बार एक अनोखी पुलक समाई हुई थी। पपीहा पुलकित होकर प्रथम बार 'पीड पीड' की तान अलाप रहे थे। मोर हर्षित होकर भूम उठे और अपने रंग-विरंगे पख फैलाकर नृत्य करने लगे। नदियों में प्रथम बार जल का पूर आया। भूमि का उत्ताप शान्त हुआ और पृथ्वी के गर्भ से नवीन अकुरों का जन्म हुआ। नाना प्रकार के विना बोये हुए धान्य उग आये। धीरे धीरे वे बढ़ने लगे। उन पर फल भी लग गये। कल्पवृक्ष विलकुल नष्ट हो गये थे।

प्रजा के समक्ष उदर-पूर्ति की समस्या थी। धान्य खड़े थे किन्तु वह उनका उपयोग करना जानती नहीं थी। कल्पवृक्षों से उसकी समस्या का समाधान होता आया था, किन्तु कल्पवृक्ष समाप्त हो चुके थे। तब प्रमुख लोग नाभि राज के पास गये और दीनतापूर्वक उनसे जीवनोपाय पूछने लगे। नाभिराज ने दयादर् होकर प्रजा को आश्वासन दिया—'तुम लोग किसी प्रकार का भय मत करो। कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं किन्तु अब ये फलों से भुके हुए साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसा ही उपकार करेंगे, जिस प्रकार कल्पवृक्ष करते थे। किन्तु ये विषवृक्ष और

१. तस्य काले मुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत।

स तन्निर्कर्तनोपायमगदिशन्नाभिरित्यभूत् ॥ आदिपुराण ३।१६४

✓ 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, कैलाश प्रकाशन लखनऊ, पृ० १२३, परिशिष्ट २

औषधिवृक्ष है। इनके मसाले बनाकर अन्न को स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। ये लम्बे लम्बे इक्षु-वृक्ष हैं। इन्हें दातो से अथवा यत्र से पेरकर स्वादिष्ट रस मिल सकता है।'

इसके पश्चात् नाभिराज ने गीली मिट्टी को हाथी के गण्डस्थल पर रखकर उससे थाली आदि पात्र बनाने की शिक्षा दी। इस प्रकार नाभिराज ने कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर प्रजा की सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति की। इसलिये प्रजा के लिये वे ही कल्पवृक्ष बन गये।

सृष्टि के कर्मयुग के प्रारम्भ और भोगयुग के अन्त की इस सन्धि-वेला में नाभिराज ने मानव-जीवन को नवीन व्यवस्था का प्रारम्भ करके एक नये युग का प्रारम्भ किया। अतः वे युग-प्रवर्तक माने जाते हैं।

प्रतिश्रुति से लेकर नाभिराज तक चौदहों कुलकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। इनमें से कुछ को जातिस्मरण ज्ञान था। कुछ को अवधिज्ञान था। इसलिये अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा उन्होंने प्रजा के समक्ष आये हुए नये नये प्रश्नों के उत्तर दिये, नई नई समस्याओं के समाधान दिये।

ये सभी प्रजा के जीवन का उपाय जानते थे। इसलिये ये मनु कहलाते थे। तत्कालीन प्रजा को कुल की भाँति इकट्ठा रहने का उपदेश दिया था। इसलिये वे कुलकर कहलाते थे। उन्होंने नवीन वंश-परम्परा स्थापित की थी। इसलिये वे कुलधर कहलाते थे। तथा युग की आदि में हुए थे, इसलिए इन्हें युगादि पुरुष भी कहा जाता था। ऋषभदेव और भरत को भी इसी अर्थ में कुलकर कहा गया है।

भोगभूमि में, कल्पवृक्षों के सुविधा-काल में मनुष्य वनों में इधर उधर कबीलों के रूप में रहते थे। कुलकरो ने उन्हें समूहबद्ध करके एक स्थान में रहना और उगे हुए धान्यों से जीवन-निर्वाह करना सिखाया। नाभिराज ने मिट्टी के वर्तन बनाना सिखाकर मानव-सभ्यता की आधार-शिला रखी।



२. भगवान ऋषभदेव का जन्म

सूय उदित होता है, उससे पूर्व ही उसकी प्रभा अन्धकार का नाश कर देती है। तीर्थकर असाधारण और लोकातिशयी महापुरुष होते हैं। वे उत्पन्न होते हैं, उससे पूर्व ही उनका पुण्य असाधारण और देवों द्वारा अयोध्या लोकातिशयी कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। तीर्थकर भगवान ऋषभदेव का जन्म नाभिराज की रचना के यहाँ होने वाला है, यह विचार कर सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी—'तीर्थकर भगवान के गौरव के अनुकूल नगरी की तुरन्त रचना करो।' आज्ञा मिलते ही कुबेर आज्ञा-पालन में जुट गया। त्वय इन्द्र ने शुभ मुहूर्त, शुभ नक्षत्र में सर्व प्रथम मागलिक कार्य किया और अयोध्यापुरी के बीच में जिन मंदिर की रचना की। फिर चारों दिशाओं में भी जिन मंदिरों की रचना की। अनेक उत्साही देवों ने भक्ति और उत्साह के साथ इस कार्य में स्वेच्छा से योग दिया और स्वर्ग की सामग्री से एक अद्भुत नगरी की रचना की। यह नगरी ऐसी लगती थी, मानो इस पृथ्वी पर स्वर्गपुरी की ही रचना की गई हो।

उस नगरी के बीचों बीच सुन्दर राजमहल बनाया था। इस नगरी की इतनी सुन्दर रचना का कारण बताते हुए आचार्य जिनसेन कहते हैं—उस नगरी की रचना करने वाले कारीगर स्वर्ग के देव थे, उनका अधिकारी सूत्रधार इन्द्र था और मकान बगैरह बनाने के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी पड़ी थी, तब वह नगरी प्रशसनीय क्यों न हो।' देवों ने उस नगरी को वप्र (मिट्टी के बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजों से युक्त पत्थर के बने हुए मजबूत कोट) और परिखा (खाई) आदि से सुशोभित किया था।

उस नगरी का सार्थक नाम 'अयोध्या' था। कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकता था, इसलिये तो

वह 'अयोध्या' कहलाती थी। उस नगरी को 'साकेत' भी कहते थे क्योंकि उसमें सुन्दर-सुन्दर मकान बने हुए थे। वह नगरी सुकोशल देश में थी, अतः उसे 'सुकोशला' भी कहा जाता था। उस नगरी में अनेक विनीत शिक्षित सभ्य मनुष्यों का निवास था, अतः उसका नाम 'विनीता' भी पड़ गया।

अयोध्या नगरी के बनने पर देवों ने शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्न में पुण्याह वाचन किया। 'भगवान् वृषभ देव उत्पन्न होंगे' यह सोचकर इन्द्र ने नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी का अभिषेक करके पूजा की। तब उन्होंने अयोध्या में अपने लिये बने हुए प्रासाद में प्रवेश किया और बसा रहने लगे। इसके पश्चात् देवों ने इधर-उधर रहने वाले मनुष्यों को लाकर उस नगरी में बसाया और उन्हें हर प्रकार की सुविधा दी।

नाभिराज की पत्नी मरुदेवी थी। जब नाभिराज के साथ मरुदेवी का विवाह हुआ, उस समय इन्द्र की प्रेरणा से देवों ने उनका विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया। मरुदेवी अपने अनेक नाभिराज की पत्नी रूप, बुद्धि, द्युति और विभूति से उन्नाड़ी को भी मात करती थी। उस समय नाभिराज और मरुदेवी के समान पुण्यवान् दूसरा कोई नहीं था। जिनके स्वयम्भू भगवान् जन्म लेने वाले थे, उनके पुण्य की स्पर्धा समार में कौन कर सकता था।

भगवान् गर्भ में आये, उसमें छह माह पहले से कुवेर ने इन्द्र की आज्ञा से अयोध्या में रत्नवर्षा की। यह रत्नवर्षा भगवान् के जन्म तक अर्थात् पन्द्रह माह तक हुई। रत्नवर्षा दिन में तीन बार होती थी और एक बार में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी।

एक दिन मरुदेवी अपने प्रासाद में कोमल शय्या पर सो रही थी। उन्होंने सोते हुए रात्रि के अन्तिम प्रहर मरुदेवी का स्वप्न दर्शन में निम्नलिखित शुभ सोलह स्वप्न देखे—

- १—उन्होंने इन्द्र का ऐरावत हाथी देखा, जिसके कपोलों में मद बह रहा है।
- २—दूसरे स्वप्न में एक वृषभ (बैल) देखा। बैल का वर्ण श्वेत था और गम्भीर शब्द कर रहा था।
- ३—तीसरे स्वप्न में एक सिंह देखा। उसका वर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत था और कर्ण लाल वर्ण के थे।
- ४—चौथे स्वप्न में कमलासन पर विराजमान लक्ष्मी को देखा और हाथी अपनी सूँड़ों में स्वर्ण-कलश लिये हुए उनका अभिषेक कर रहे हैं।
- ५—पाचवें स्वप्न में पुष्पमालाये देखी, जिन पर भौरे गुंजार कर रहे हैं।
- ६—छठे स्वप्न में पूर्ण चन्द्र देखा। चादनी छिटक रही है। चारों ओर तारा गण हैं।
- ७—सातवें स्वप्न में उदयाचल में उदित होता हुआ सूर्य देखा।
- ८—आठवें स्वप्न में कमलों से ढके हुए दो स्वर्ण कलश देखे।
- ९—नौवें स्वप्न में कमलों से सुशोभित तालाब में किलोल करती दो मछलियाँ देखी।
- १०—दसवें स्वप्न में जल से भरा तालाब देखा, जिसमें कमल तैर रहे हैं।
- ११—ग्यारहवें स्वप्न में उत्ताल तरंगों वाला, गभीर गर्जन करता समुद्र देखा।
- १२—बारहवें स्वप्न में रत्नजटित स्वर्ण का सिंहासन देखा।
- १३—तेरहवें स्वप्न में रत्नों से देदीप्यमान स्वर्ण का विमान देखा।
- १४—चौदहवें स्वप्न में पृथ्वी से निकलता हुआ नागेन्द्र का भवन देखा,
- १५—पन्द्रहवें स्वप्न में तेजस्वी किरणों वाली रत्न-शशि देखी।
- १६—सोलहवें स्वप्न में जलती हुई धूम रहित अग्नि देखी।

इसके पश्चात् उन्होंने स्वर्ण वर्ण वाले और ऊँचे स्कन्ध वाले एक वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते देखा।^१

१ श्वेताम्बर परम्परा १४ स्वप्न मानती है—गज, वृषभ, सिंह लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पद्मसरोवर, क्षीर समुद्र, विमान, रत्नराशि और निर्ध्वन अग्नि।
—कल्पसूत्र, सूत्र ३३

तभी प्रभात-जागरण के मगल वाद्य वजने लगे और बन्दी जन मगल गान करने लगे। तब मरुदेवी शुभ स्वप्नों के स्मरण से आनन्दित होती हुई उठी। उन्होंने मगल स्नान करके वस्त्राभूषण धारण किये और प्रमुदित मन से अपने पति नाभिराज के पास पहुँची। वहाँ समुचित विनय के साथ नाभिराज की वाई और सिंहासन पर बैठ गई। नाभिराज ने पत्नी की समुचित अभ्यर्थना की। तब मरुदेवी ने रात में देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करते हुए पूछा—देव ! इन स्वप्नों का क्या फल है, यह जानने की मेरी अभिलाषा है।

तब अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल विचार कर नाभिराज बोले—‘देवि ! मैं इन स्वप्नों का फल बताता हूँ।

हाथी के देखने से तेरे उत्तम पुत्र होगा। बैल देखने से यह समस्त लोक में श्रेष्ठ होगा। सिंह के देखने से वह अनन्त बल से युक्त होगा। मालाएँ देखने से वह सत्य धर्म का प्रवर्तक होगा। लक्ष्मी देखने से सुमेरु पर्वत पर देव उसका अभिषेक करेंगे। पूर्ण चन्द्र को देखने से वह लोक को आनन्द देने वाला होगा। सूर्य दर्शन का फल वह अनन्त तेज का धारी होगा। दो कलश देखने का फल वह अनेक निधियों का स्वामी होगा। मीन-युगल का फल वह सुखी रहेगा। सरोवर देखने से वह १००८ शुभ लक्षणों का धारक होगा। समुद्र दर्शन का फल वह सर्वज्ञ केवली बनेगा। सिंहासन देखने से वह जगद्गुरु का पद प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतरित होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से वह जन्म से अवधिज्ञान का धारी होगा। रत्नों की राशि देखने से वह अनन्त गुणों का निधान होगा। और निर्धूम अग्नि देखने से वह कर्म रूप ईंधन को जलाने वाला होगा। तुम्हारे मुख में वृषभ ने प्रवेश किया है, उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में वृषभनाथ अवतार लेंगे।

अपने ज्ञानवान पति से अपने स्वप्नों का फल सुनकर मरुदेवी आनन्द विभोर हो गई। उनके नेत्रों में हर्ष के अश्रु कण चमकने लगे। वे अपने पति को नमस्कार करके अपने महल में चली गईं ! उन्हें यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि मेरे गर्भ में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है।

आषाढ कृष्ण द्वितीया^१ के उत्तराषाढ नक्षत्र में सर्वार्थ सिद्धि विमान से वज्रनाभि अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके मरुदेवी के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों और इन्द्रों ने अपने अपने विमानों में होने वाले चिन्हों में तीर्थंकर भगवान का गर्भावतार जानकर प्रभु के दर्शनों के लिए प्रस्थान किया और वे अयोध्या नगर में आये। उन्होंने नगर की प्रदक्षिणा दी। फिर माता-पिता को नमस्कार किया और गर्भस्थ प्रभु का गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया। नाना सगीत, वाद्य और नृत्य से वातावरण भुखरित हो उठा। उत्सव मनाकर सभी देव और इन्द्र अपने अपने स्थान को चले गए। इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक षट् बुमारी देवियाँ माता की सेवा में रह गईं। दिक्कुमारियों ने गर्भ-शोधन का कार्य किया।

गर्भस्थ प्रभु के कारण माता को कोई कष्ट नहीं हुआ। प्रभु के भक्त एक आचार्य ने कल्पना की है कि माता मरुदेवी स्वयं भी गौरव से युक्त थी, फिर तीनों जगत के गुरु (भारी तथा श्रेष्ठ) जिनेन्द्र देव को धारण कर रही थी, फिर भी वे शरीर में लघुता (हल्कापन) अनुभव करती थी। माता के गर्भ में भगवान का निवास ऐसा था, जैसा जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का होता है।

देवियाँ जगन्माता की नाना भाँति सेवा करती थी और उनका मनोरंजन करती थी। कभी वे माता से प्रश्नोत्तर करती थी, कभी गूढार्थक काव्य-चर्चा करती थी। कभी गीत-नृत्य करती थी।

माता मरुदेवी त्रिलोकीनाथ भगवान को अपने गर्भ में धारण किए हुए थी, अतः भगवान के तेजपुंज से वे भी उद्भासित हो रही थी और समस्त जन उन्हें नमस्कार करते थे। नाभिराज और उनका परिवार भी मरुदेवी माता की सुख-सुविधा का बराबर ध्यान रखते थे।

इस प्रकार दिनों दिन गर्भ बढ़ता गया।

१ श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान का गर्भावतारण आषाढ कृष्ण चतुर्थी को हुआ था—आवश्यक नियुक्ति, गाथा १८२

नी माह पूर्ण होने पर चैन कृष्णा नौमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तरापाद नक्षत्र में श्रीर ब्रह्म नामक महायोग में पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। उस समय प्रकृति में अत्यन्त उल्लास भर गया। आकाश भगवान का जन्म स्वच्छ था, प्रकृति शान्त थी, गीतल मद सुगन्धित पवन वह रही थी। वृक्ष फूल वरसा रहे थे। देवों के दुन्दुभि बाजे स्वयं बज रहे थे। समुद्र, पृथ्वी, आकाश मानो हर्ष से थिरक रहे थे। भगवान के जन्म से तीनों लोकों में क्षण भर को उद्योत और सुख का अनुभव हुआ।

जिनेन्द्रदेव का जातकर्म विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, रुचका, रुचकोज्ज्वला, रुचकाभा और रुचकप्रभा नामक दिक्कुमारियों ने किया। ये दिक्कुमारियाँ जात कर्म में अत्यन्त निष्णात हैं। तीर्थंकरों का जात कर्म ये ही देवियाँ करती हैं।

भगवान के जन्म के प्रभाव से इन्द्रों के मुकुट चंचल हो गये, आसन कम्पायमान हो गये। भवनवासी देवों के भवनों में शखों का शब्द, व्यन्तरो के लोक में भेरी का शब्द, ज्योतिष्क देवों के विमानों में सिंहों के शब्द और कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टाओं के शब्द होने लगे। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अवधिज्ञान से जान लिया कि भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। वह अपने सिंहासन से उतर कर सात डग आगे बढ़ा। उसने उच्च स्वर से भगवान का जय घोष किया और दोनों हाथ मस्तक से लगा कर भगवान को प्रणाम किया। फिर सेनापति को आज्ञा दी 'भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। सब देवों को सूचना करवा दो कि सबको भरत-क्षेत्र चलना है।' सूचना मिलते ही समस्त देव चल पड़े। अन्युत स्वर्ग तक के इन्द्रों ने भी इसी प्रकार अपने अपने लोक में आदेश प्रचारित किये और उन स्वर्गों के भी देव चल दिये। इसी प्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव भी चल दिये।

उस समय समस्त आकाश हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की देव सेनाओं से व्याप्त हो गया। सौधर्मेंद्र ऐरावत हाथी पर आरूढ़ था। चारों निकाय के देव भी विविध वाहनो पर आरूढ़ होकर चल रहे थे। आकाश में चारों ओर देवों के श्वेत छत्र, ध्वजा और चमर दिखाई पड़ रहे थे। भेरी, दुन्दुभि और शखों के शब्दों से आकाश व्याप्त था। गीत और नृत्य से वातावरण में अद्भुत उल्लास भर रहा था। सभी देव अयोध्या नगरी में पहुँचे। सभी देव वहाँ एक साथ प्रथम बार पहुँचे, इसलिए उस समय से उस नगर का नाम 'साकेत' प्रसिद्ध हो गया।

सर्व प्रथम देवों ने नगर की तीन प्रदक्षिणा दी। तत्पश्चात् सौधर्मेंद्र नाभिराज के प्रासाद में पहुँचा और इन्द्राणी को जिनेन्द्र प्रभु को लाने की आज्ञा दी। इन्द्राणी प्रसूति गृह में गई। उसने प्रभु को और माता को नमस्कार किया। फिर अपनी देव माया से माता को सुख निद्रा में सुलाकर और उनके बगल में मायामय बालक लिटाकर प्रभु को गोद में उठा लिया और लाकर इन्द्र को सौंप दिया।

इन्द्र ने भगवान को गोद में ले लिया। बाल प्रभु के सुख-स्पर्श से उसका समस्त शरीर हर्ष से रोमांचित होगया। वह प्रभु के त्रिभुवन मोहन रूप को निहारने लगा। किन्तु उसे तृप्ति नहीं हुई। तब उसने हजार नेत्र बनाकर प्रभु के उस अनिष्ट रूप को देखा। फिर भी वह तृप्त नहीं हुआ। तो उसने भगवान की स्तुति करना प्रारम्भ किया।

तत्पश्चात् वह भगवान को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हुआ। ऐशान इन्द्र ने भगवान के ऊपर श्वेत छत्र तान लिया। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र दोनों पार्श्वों में खड़े होकर चमर ढोलने लगे।

इन्द्र देव समूह के साथ भगवान को सुमेरु पर्वत के शिखर पर ले गया। सर्व प्रथम सबने सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी। फिर पाण्डुक शिला पर स्थित सिंहासन पर जिन-बालक को विराजमान किया। समस्त देव हर्ष में भरकर गीत-नृत्य करने लगे। उस समय तत, वितत, घन और सुषिर चारों प्रकार के बाजे बज रहे थे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, देवागनाओं ने अपने हाथों में अष्ट मंगल द्रव्य ले लिये। देव लोग क्षीरसागर से स्वर्ण कलश भरकर क्रम से एक से दूसरे तक पहुँचाने लगे। सर्व प्रथम सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इन्द्रों ने भगवान का अभिषेक किया। सभी इन्द्र और देव भगवान का जय जयकार कर रहे थे। सौधर्म इन्द्र को एक कलश द्वारा अभिषेक करने

से तृप्ति नहीं हुई। तब उसने हजार भुजाय बना ली और एक साथ हजार कलशों से भगवान् का अभिषेक किया। इसके पश्चात् अन्य इन्द्रो और देवों ने भगवान् का अभिषेक किया।

भगवान् स्वयं ही पवित्र थे। उनके पवित्र अंगों का स्पर्श पाकर वह जल भी पवित्र हो गया और वह जहाँ जहाँ वहाँ, वह समस्त धरातल भी पवित्र हो गया।

अभिषेक के पश्चात् सौधमेन्द्र ने जगत की शान्ति के लिए शान्ति मन्त्र का पाठ किया। देवों ने बड़ी भक्ति से उस गन्धोदक को अपने मस्तकों पर लगाया, फिर सारे शरीर पर लगाया और अवशिष्ट गन्धोदक को स्वर्ग ले जाने के लिये रख लिया। फिर सब इन्द्रों ने मन्त्रों से पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य इन अष्ट द्रव्यों से भगवान् की पूजा की। पश्चात् मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी।

उस समय सुगन्धित पवन वह रहा था। आकाश से सुगन्धित जल की वर्षा हो रही थी। देव विभिन्न प्रकार के बाजे बजा रहे थे। इन्द्राणी ने तब भगवान् को अपनी गोद में लेकर सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन करके दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये। मस्तक पर तिलक लगाया और कल्पवृक्ष के पुष्पों का मुकुट पहनाया। उनके मस्तक पर चूड़ामणि रत्न रखा। नेत्रों में अजन लगाया, कानों में कुण्डल पहनाये, गले में रत्नहार पहनाया। वाज्रवन्द, अनन्त, करधनी, घुघरू आदि अनेक रत्नाभरण पहनाये। फिर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वन के पुष्पों की माला पहनाई। श्री, शची, कीर्ति और लक्ष्मी देवियों ने भगवान् को इस तरह अलंकृत किया कि इन्द्राणी भी भगवान् की रूप-सज्जा को देखकर विस्मित रह गई। इन्द्र तो भगवान् की रूप माधुरी को हजार नेत्र बनाकर देखता रह गया। फिर सबने मिलकर भगवान् की स्तुति की।

इस प्रकार जन्माभिषेक का उत्सव मनाकर इन्द्र और देव भगवान् को लेकर अयोध्या वापिस आये। इन्द्र भगवान् को लेकर कुछ देवों के साथ महाराज नाभिराज के महलों में पहुँचा और श्रीगृह के आगमन में सिंहासन पर भगवान् को विराजमान किया। नाभिराज वाल भगवान् को देखकर अत्यन्त हर्षित हो रहे थे। इन्द्राणी ने माया-मयी निद्रा दूर कर माता मरुदेवी को सचेत कर दिया, तब माता भी अपने पुत्र को अत्यन्त वात्सल्य के साथ देखने लगी। इन्द्र ने महार्घ्य रत्नाभरणों और मालाओं से माता-पिता को पूजा-स्तुति की—हे नाभिराज! आप ऐश्वर्य शाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा हैं क्योंकि यह पुत्र रूपी ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है। आज आपका यह घर हम लोगों के लिये जिनालय के समान पूज्य है और आप जगत्पिता के भी माता-पिता हैं। इसलिये हम लोगों के लिये सदा पूज्य हैं।’

इन्द्र ने माता-पिता को जन्माभिषेक की सारी कथा सुनाई, जिसे सुनकर दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। फिर इन्द्र की सहमति से माता-पिता ने भगवान् का जन्म महोत्सव किया। प्रजा ने भी विविध प्रकार के उत्सव किये।

नगरवासियों को आनन्द विभोर होते हुए देखकर सौधर्म इन्द्र भी अपने आनन्द को न रोक सका। उसने आनन्द नाटक किया। सगीत विद्या में निपुण गन्धर्वों ने विविध वाद्यों के साथ सगीत करना इन्द्र द्वारा प्रारम्भ किया। इन्द्र द्वारा किया गया नाटक अलौकिक था। सर्व प्रथम उसने भगवान् का आनन्द नाटक गर्भावतरण नाटक किया। उसके पश्चात् जन्माभिषेक सम्बन्धी नाटक दिखाया। इसके बाद उसने भगवान् के पिछले दश जन्मों का नाटक किया, जिसे दशावतार नाटक भी कहा जाता है।

सर्व प्रथम इन्द्र ने मंगलाचरण किया। फिर पूर्वैरङ्ग दिखाया। पूर्वैरङ्ग दिखाते समय उसने पुष्पाजलि क्षेपण करके ताण्डव नृत्य किया। ताण्डव नृत्य के प्रारम्भ में उसने नान्दी मंगल किया। फिर रंगभूमि में प्रवेश किया। रंग-भूमि में प्रवेश करते समय वह पुष्पाजलि विकीर्ण कर रहा था। फिर उसने विभिन्न लयों और मुद्राओं में ताण्डव नृत्य किया। देव आकाश से पुष्पवर्षा करने लगे। इन्द्र ने नृत्य में क्रमशः शुद्ध पूर्वैरङ्ग, करण और अङ्गहार का प्रयोग करते हुए अद्भुत रस-सृष्टि की। उसकी भुजायें नाना प्रकार की भंगिमाओं में चंचल गति से चल रही थी। उसके पदक्षेपों पर दर्शकों की दृष्टि ठहर नहीं पाती थी। तडित् गति के कारण कभी वह एक रह जाता था, कभी अनेक हो जाता था। क्षण में वह निकट दिखाई देता था और क्षण में वह दूर चला जाता था। देव नर्तकिया भी उसकी होड़ नहीं कर पा रही थी। उसके नृत्य का रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ उसकी आत्मा के साथ एकाकार

हो उठी थी। अपने इस ताण्डव नृत्य के द्वारा इन्द्र ताण्डव नृत्य का आद्य प्ररतोता, सूत्रधार और जनक माना गया है।

इस नृत्य के पश्चात् इन्द्र ने भगवान के दश जन्मों या अवतारों का नाटक किया। सर्व प्रथम इन्द्र ने भगवान के उस जन्म का नाटक दिखाया, जिसमें वे महाबल विद्याधर थे। इसके बाद क्रमशः ललिताग देव, वज्र जघ, भोगभूमिज आर्य, श्रीधरदेव, सुविधि नरेश, अच्युतेन्द्र, वज्रनाभि चक्रवर्ती, सर्वार्थ सिद्धि के अहमिन्द्र और नाभिपुत्र वृषभदेव का नाटक किया।

इस प्रकार यह आनन्द नाटक समाप्त हुआ।

इन्द्र ने भगवान का एक नाम पुरुदेव रखा था। किन्तु उनका मुख्य नाम वृषभदेव रखा। इन्द्र ने भगवान का यह नाम क्यों रखा, इस बारे में आचार्यों ने कई प्रकार की कल्पित दी हैं। भगवान का नामकरण गर्भावनरण के समय माता मरुदेवी ने वृषभ देखा था, इसलिये भगवान का नाम वृषभदेव रखा। एक हेतु यह दिया गया है कि भगवान जगत में श्रेष्ठ हैं, इसलिये उनका नाम वृषभदेव रखा। वृषभ का अर्थ है श्रेष्ठ। तीसरा हेतु यह दिया है कि वृष श्रेष्ठ धर्म को कहते हैं। भगवान उस श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान हो रहे थे, इसलिये इन्द्र ने उन्हें वृषभ स्वामी कहा। इन सभी मतों से भिन्न एक मत यह है कि वे जिनेन्द्र प्रभु इन्द्र द्वारा की गई पूजा के कारण प्रधानता को प्राप्त हुए थे, इसलिये माता-पिता ने ही उनका नाम ऋषभ रखा।

नामकरण के पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये।



३. बाल्य-काल

इन्द्र ने बाल भगवान के लालन पालन और सेवा-सुभूषा के लिये अलग-अलग देवियाँ नियुक्त कर दी। इन्द्र ने भगवान के हाथ के अंगूठे में अमृत स्थापित कर दिया था। वे अमृत चूसते हुए शुक्ल भगवान का दिव्य पक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगे। उनका कोमल विस्तर, आसन, वस्त्र, आभूषण, लालन पालन अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान सभी वस्तुएँ दिव्य थीं। कुवेर ऋतु के अनुकूल सभी वस्तुएँ भेजता था। नाभिराज और मरुदेवी बाल भगवान को देख देखकर हर्षित होते थे। भगवान के होठों पर सदा मद स्मित बिखरा रहता था, जिससे प्रतीत होता कि उन्हें ससार के भोगों की कोई कामना शेष नहीं है, वे इनसे परितृप्त हो चुके हैं। किन्तु प्रकृति-धर्म को तो निभाना ही है, इसलिए वे इस पर सदा हसते रहते हैं। जो जिन बालक जन्म से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान का धारक है, उसे अवोध बालक के समान चेष्टा करनी पड़े, इससे अधिक परिहास की बात क्या हो सकती है।

बालक ऋषभदेव न केवल अपने माता-पिता के ही, अपितु जन-जन के प्रिय थे। अनेक स्त्री पुरुष तो केवल उनकी रूप-सुधा का पान करने और देखने के लिये ही आते थे। उनकी प्रत्येक क्रीड़ा मन को भगवान की आकर्षित करने वाली थी। यदि शिशु ऋषभदेव जरा सा मुस्करा भी देते थे तो माता बाल-क्रीड़ाएँ मरुदेवी निहाल हो जाती थी। भट्टारक ज्ञानभूषण ने शिशु ऋषभदेव की बाल-चेष्टाओं का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक वर्णन किया है। बालक ऋषभ पालने में पड़ा हुआ है। किन्तु बीच-बीच में कभी आँख खोलकर देखता है, कभी रो उठता है और कभी अपने नन्हें हाथों से हार को मोड़-तोड़ देता है—

‘आहे क्षिणि जोवइ क्षिणि सोवइ रोवइ लहीअ लगार ।

आलि करइ कर मोड़इ त्रोडइ नवसर हार ॥ आ० फा० १०३॥

बालक आदीश्वर लडखडाते डगो से चलने लगे है । उनके पैरो मे स्वर्ण के घु घरू पडे है । जब वे चलते हैं तो उनमे से घ्रण-घ्रण की मधुर ध्वनि निकलती है । जिसे सुनकर नाभिराज और मरुदेवी दोनो को ही अपार हर्ष होता है—

‘आहे घ्रण घ्रण घूंघरी बाजइ हेम तणी चिहु पाइ ।

तिम तिम नरपति हरखइ मरुदेवी माइ ॥ आ० फा०, १०१॥

अब बालक कुछ चलने लगा है । उसके मस्तक पर टोपी है । कानो मे कुण्डल झलक रहे है । जो देखता है, देखता ही रह जाता है । उसे तृप्ति नही होती—

‘आहे अगोइ अगि अनोपम उपम रहित शरीर ।

टोपीय उपीय मस्तकि बालक छइ पण वीर ॥ ६५॥

आहे कनिय कुण्डल झलकइ खलकइ नेउर पाउ ।

जिम-जिम निरखइ हियउइ तिम-तिम भाइ ॥ ६६॥

बालक ऋषभदेव अब क्रीडा करने लगे । इन्द्र ने उनके साथ खेलने के लिए देव भेज दिए । वे देव भगवान का सा रूप बनाकर उनके साथ खेलते थे । वे ऐसे लगते थे, मानो वे भी ऋषभदेव हो । वही रूप, वही शरीर, वही वय । सभी बातो मे समानता । भगवान का बाल-सौन्दर्य कितना मोहक था । और जब वे रत्न जडित आगन मे खेलते है तो आगन मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर स्वय ही मुग्ध हो जाते है । जब वे तोतली बोली बोलते है तो माता मरुदेवी उन पर बलि बलि जाती है । उनका धूल घूसरित वेष तो ऐसा लगता है, मानो सौन्दर्य साकार हो उठा हो । भगवान के इस अनोखे रूप और अनोखो लीला का सरस वर्णन अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त ने ‘महापुराण’ मे किया है, जिसे पढ़कर भगवान की वह बाल छवि आखो के आगे तैरती सी प्रतीत होती है ।

सेसवलीलिया कीलमसीलिया । पहुणा दाविया केण ण भाविया ॥

धूली धूसर ववगय कडिल्लु । सहजायक विलकोतलु जडिल्लु ॥

हो हल्लर जो जो सुहु सुअहि । पइ पणवतउ भूयगणु ॥

णदइ रिउभइ दुविकय मलेण । का सुवि मलिगुण ण होइ मणु ॥

धूली धूसरी काड किक्किणी सरी । णरुव मलीलउ कीलइ बालउ ॥

भगवान की इस छवि पर कौन नही रीझ उठेगा । उनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह था । उनके शरीर पर नौ सौ व्यजन और एक सौ आठ शुभ लक्षण थे ।

जन्म से ही उनके शरीर मे अनेक विशेषताये थी । सर्व साधारण से उनका शरीर असाधारण था । उन्हे पसीना नही आता था । शरीर निर्मल था । दूध के समान धवल रक्त था । वज्र वृषभनाराच जन्म के दस अतिशय सहनन था । समचतुरस्रस्थान था । उनका रूप अनुपम था । चम्पक पुष्प के समान शरीर मे सुगन्धि थी । १००८ लक्षण थे । अनन्त बलवीर्य था । तथा वे हित-मित-मधुर भाषण करते थे । इस प्रकार जन्म से ही उनमे ये दस विशेषताये थी, जिन्हे जन्म के दस अतिशय कहा जाता है ।



४. भगवान गृहस्थाश्रम में

ऋषभदेव का शैशव काल बीता और उन्होंने जीवन की देहली पर पग रखा। वे जन्म से तीन ज्ञान के धारी थे। उस समय तक लिपि और अक्षर विद्या का प्रचलन नहीं था। अतः विद्याओं का भगवान का विवाह प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया था। इसलिए किशोर ऋषभदेव की शिक्षा का प्रश्न ही नहीं था। फिर तीर्थंकर तो जगत के गुरु होते हैं, तीर्थंकर का गुरु कोई नहीं होता। वे जन्म से ही प्रनिबुद्ध होते हैं। पिछले जन्मों में सतत साधना द्वारा ज्ञान का जो भण्डार संचित कर लेते हैं, वह सुरक्षित रूप में उन्हें जन्म से ही प्राप्त रहता है। वे ससार की घटनाओं से नये-नये अनुभव सजोते हैं और उस पर मनन-चिन्तन करते हैं। इसलिए वे लोक की सम्पूर्ण विद्याओं के स्वामी होते हैं। ऋषभदेव सरस्वती के स्वामी थे। उन्हें जन्म से ही सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान था। वे ममन्त कलाओं के ज्ञाता थे। ज्यों-ज्यों उनका शरीर बढ़ रहा था, वैसे ही उनके गुण भी बढ़ रहे थे।

अब भगवान की आयु विवाह योग्य हो गई। महाराज नाभिराज ने एक दिन अनुकूल अवसर देखकर अपने पुत्र से कहा—‘वत्स! आप जगद् गुरु हैं, ससार का कल्याण करने के लिए ही आपका अवतार हुआ है। किन्तु पिता के नाते मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप विवाह करके गृहस्थाश्रम अंगीकार करें। पिता के प्रिय वचन सुनकर भगवान ने स्वीकृति सूचक “ॐ” कहा। पुत्र की स्वीकृति पाकर पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्द्र के परोमर्ग से सुशील, शुभलक्षणों वाली, सती और सुन्दर दो कन्याओं की याचना की। ये दोनों कन्याएँ कच्छ, महाकच्छ की वहने थीं। उनका नाम यशस्वती^१ और सुनन्दा था। नाभिराज ने उन्हीं कन्याओं के साथ धूमधाम से ऋषभदेव का विवाह कर दिया। भगवान के विवाह से न केवल मनुष्य लोक में ही आनन्द छा गया, बल्कि देवलोक में भी भगवान के विवाह के उपलक्ष्य में नाना प्रकार के उत्सव हुए। माता मरुदेवी और पिता नाभिराज दोनों पुत्र-वधुओं को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

दोनों देवियों के साथ भगवान ऐसे लगते थे मानो वे कीर्ति और लक्ष्मी से ही सुशोभित हों। उन देवियों का रूप, जीवन, कान्ति और सौन्दर्य अनुपम था।

एक दिन महादेवी यशस्वती महलों में सो रही थी। उन्होंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न देखा। स्वप्न में असी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्र, सूर्य, जल से परिपूर्ण सरोवर जिसमें हंस तैर रहे थे और चंचल लहरों वाला समुद्र देखा। स्वप्न देखने के बाद बन्दी जनो के मंगल पाठ को सुनकर पुत्र-पुत्रियों का वे जाग गईं। और शय्या त्याग कर प्रातः काल का मंगल स्नान कर देखे हुए स्वप्नों का फल जानने के लिए अपने पति ऋषभदेव के पास पहुँची। और भगवान के पास सिंहासन पर बैठ गईं। फिर उन्होंने रात्रि में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे फल की जिज्ञासा प्रगट की। भगवान ने अवधिज्ञान में विचार कर कहा—‘हे देवि! स्वप्न में तूने सुमेरु पर्वत देखा है, उससे प्रगट होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा। सूर्य उसके प्रताप और चन्द्र उसकी कान्ति को सूचित करता है। सरोवर और हंस देखने से तेरा पुत्र अनेक शुभ लक्षणों से युक्त होगा और अपने विशाल वक्षस्थल पर कमलवासिनों लक्ष्मियों को धारण करेगा। असी हुई पृथ्वी देखने से वह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का पालन करेगा। समुद्र देखने का फल यह है कि वह चरम शरीरी होगा। और तेरे सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र होगा।’ स्वप्नों का फल सुनकर महादेवी यशस्वती को अपार हर्ष हुआ।

महादेवी यशस्वती के गर्भ में जो जोव आया था, वह अपने पूर्व जन्मों में व्याघ्र, अतिगृद्ध, देव, सुबाहु और सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था। वह अहमिन्द्र ही महादेवी के गर्भ में अवतरित हुआ था। गर्भस्थ वह जीव महा प्रतापी चक्रेश्वर बनने वाला था। यही कारण था कि महादेवी यशस्वती अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य

१ इनका अपर नाम नन्दा भी था।

को भी सहन नहीं करती थी। ये अपने मुख की कान्ति तलवार में देखा करती थी, किन्तु वह तलवार में पड़ने वाली अपनी प्रतिकूल छाया को भी सहन नहीं कर पाती थी।

महादेवी के ऊपर गर्भ के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे थे—दोहला उत्पन्न होना, आहार में रुचि का मन्द होना, आलस्य सहित गमन करना, शरीर को शिथिल कर जमीन पर सोना, गालों तक मुख का सफेद पड़ जाना, आलस भरे नेत्रों से देखना, अधरोष्ठ का कुछ सफेद और लाल होना और मुख से मिट्टी जैसी सुगन्ध आना आदि।

नौ माह व्यतीत होने पर महादेवी यशस्वती ने देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। भगवान ऋषभदेव के जन्म के समय जो दिन, लग्न, योग, चन्द्र और नक्षत्र आदि पड़े थे, वे ही शुभ दिन आदि पुत्र के जन्म के समय भी पड़े। यह कैसा सुखद आश्चर्य था। वही चैत्र कृष्ण नौमी का दिन, मोन लग्न, ब्रह्म योग, धन राशि का चन्द्रमा और उत्तराषाढ नक्षत्र। इस शुभ वेला में सम्राट के लक्षणों से सुशोभित पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था। यह देखकर निमित्त ज्ञानियों ने भविष्य बताते हुए कहा था कि बालक समस्त पृथ्वी का अधिपति बनेगा। बालक के उत्पन्न होने पर सबसे अधिक हर्ष दादा-दादी को हुआ। सौभाग्यवती स्त्रियां माता यशस्वती को आशावादि दे रही थी—‘तू इसी प्रकार के शत पुत्रों को जन्म दे।’

पुत्रोत्पत्ति की खुशी में राजमहल में विविध उत्सव होने लगे। तुरही, दुन्दुभि, झालर, शहनाई, सितार, शख, काहल और ताल आदि नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। प्रकृति भी अपना हर्ष प्रकट करने में पीछे नहीं रही। आकाश से पुष्प-वर्षा हो रही थी। सुगन्धित जल कणों से युक्त पवन वह रहा था। देव आकाश में जय ध्वनि कर रहे थे और देवियां विविध आशीर्वचन उच्चारण कर रही थीं। नर्तकियां नृत्य कर रही थीं। नगर की बाथियों और राजमार्गों पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया। सारा नगर तोरणों आदि से सजाया गया। चतुष्पथों पर रत्नचूर्ण से चौक पूर कर मंगल कलश रखे गए। निर्धनों को मुक्तहस्त दान दिया जा रहा था। सारी अयोध्या हर्षोत्सवों से व्याप्त थी। वन्धुजनों ने भरतक्षेत्र के अधिपति होने वाले बालक का नाम ‘भरत’ रखवा। वादक के चरणों में चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नों के चिन्ह बने हुए थे।

बालक धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त हुआ। भरत की जन्म तिथि, नक्षत्र आदि ही अपने पिता ऋषभदेव की जन्म तिथि आदि में समानता नहीं रखते थे, भरत का गमन, शरीर, मन्द हास्य, वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील, विज्ञान आदि भी अपने पिता के समान था।

महादेवी यशस्वती ने जब पुत्र भरत को जन्म दिया, तब उसके साथ ब्राह्मी नामक पुत्री को भी जन्म दिया। इस प्रकार भरत और ब्राह्मी युगल उत्पन्न हुए थे। इसके बाद यशस्वती ने क्रमशः ६८ पुत्रों को जन्म दिया। ऋषभदेव की दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुवली पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। बाहुवली सर्वश्रेष्ठ रूप सम्पदा के धारक थे। वे इस काल के चौबीस कामदेवों में प्रथम कामदेव थे। बाहुवली का जैसा रूप था, वैसा रूप अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता था। युवा होने पर स्त्रियां उनके रूप को देखकर ठगी सी रह जाती थीं और वे उन्हें मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अगज, मदन और अनन्यज आदि नामों से पुकारती थीं।

श्वेताम्बर परम्परा में ऋषभदेव की स्त्रियों के नाम सुनन्दा और सुमंगला बताये हैं। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा ने बाहुवली और सुन्दरी को युगल रूप में जन्म दिया। पश्चात् सुमंगला ने युगल रूप से ४६ बार में ६८ पुत्रों को जन्म दिया।

दिगम्बर ग्रन्थों में भगवान ऋषभदेव के सौ^१ पुत्र होने का तो वर्णन मिलता है, किन्तु उन पुत्रों के नाम भगवान के सौ पुत्र नहीं मिलते। केवल थोड़े से नामों का ही उल्लेख मिलता है। जैसे भरत, बाहुवली, वृषभसैन, अनन्त विजय, अनन्त वीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर।

किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोष (उसभ-प्रकरण, पृष्ठ ११२६) में इन सौ पुत्रों के नाम मिलते हैं। जो इस

१. आचार्य जिनसन कृत आदि पुराण १६।२८, में एक सौ एक पुत्र बताये हैं।

प्रकार हैं—

१ भरत २ बाहुवली ३ शख ४ विश्वकर्मा ५ विमल ६ सुभक्षण ७ अमल ८ त्रिनाग ९ स्याति कीर्ति १० वरदत्त ११ सागर १२ यशोधर १३ अमर १४ रथवर १५ कामदेव १६ ध्रुव १७ वच्छ १८ नन्द १९ सुर २० सुनन्द २१ कुरु २२ अग २३ वग २४ कोशल २५ वीर २६ कर्लिंग २७ मागध २८ विदेह २९ सगम ३० दशार्ण ३१ गम्भीर ३२ वसुचर्मा ३३ सुवर्मा ३४ राष्ट्र ३५ सुराष्ट्र ३६ बुद्धिकर ३७ विविधकर ३८ सुयगा ३९ यशस्कीर्ति ४० यशस्कर ४१ कीर्तिकर ४२ सूरण ४३ ब्रह्मसेन ४४ विक्रान्त ४५ नरोत्तम ४६ पुरुषोत्तम ४७ चन्द्रसेन ४८ महामेन ४९ नभसेन ५० भानु ५१ सुकान्त ५२ पुष्पयुत ५३ श्रीधर ५४ दुर्धर्ष ५५ सुसुमार ५६ दुर्जय ५७ अजेयमान ५८ सुधर्मा ५९ धर्मसेन ६० आनन्दन ६१ आनन्द ६२ नन्द ६३ अपराजित ६४ विश्वसेन ६५ हरिपेण ६६ जय ६७ विजय ६८ विजयन्त ६९ प्रभाकर ७० अरिदमन ७१ मान ७२ महाबाहु ७३ दीर्घबाहु ७४ मेघ ७५ सुधोप ७६ विश्व ७७ वराह ७८ सुसेन ७९ सेनापति ८० कपिल ८१ शैलविचारो ८२ अरिजय ८३ कुजरवल ८४ जयदेव ८५ नागदत्त ८६ काश्यप ८७ वल ८८ धीर ८९ शुभमति ९० सुमति ९१ पद्मनाभ ९२ सिंह ९३ सुजाति ९४ सजय ९५ सुनाम ९६ नरदेव ९७ चित्तहर ९८ मुरवर ९९ दृढरथ १०० प्रभजन ।

श्रीमद्भागवत^१ में भी यह स्वीकार किया है कि ऋषभदेव के सौ पुत्र थे । उनमें भरत सबसे बड़े थे । उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट ये नौ राजकुमारों शेष नव्वे भाइयों में बड़े एवं श्रेष्ठ थे । उनमें छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमसे और करभाजन ये नौ राजकुमार बड़े भगवद्भक्त थे । इस प्रकार श्रीमद्भागवत में केवल १९ पुत्रों के ही नाम दिये गये हैं ।

एक दिन भगवान् ऋषभदेव सिंहासन पर सुखासन से बैठे हुए थे । वे अपने पुत्र-पुत्रियों को कला और विनय का शिक्षण देने के बारे में विचार कर रहे थे । तभी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक लिपि और अक विद्या उनकी पुत्रियाँ मागलिक वेष-भूषा धारण कर उनके निकट आईं । वे दोनों ऐसी लगती थीं कि आविष्कार मानो लक्ष्मी और सरस्वती ही अवतरित हुई हो । उन दोनों ने भगवान् के निकट जाकर नियम के साथ उन्हें प्रणाम किया । भगवान् ने प्रेमपूर्वक दोनों पुत्रियों को अपनी गोद में बैठाया, उन पर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूचा । फिर कुछ देर तक उनके साथ विनोद करते रहे । पश्चात् वे बोले कि—तुम दोनों का यह सुन्दर शरीर, अवस्था और अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित किया जाय तो तुम्हारा यह जन्म सफल हो सकता है । यह कहकर उन्होंने दोनों को आशीर्वाद दिया और स्वर्ण के पट्टे पर श्रुत देवता का पूजन कर स्थापन किया । फिर 'सिद्ध नम' कहकर दाये हाथ से ब्राह्मी को लिपि विद्या अर्थात् वर्णमाला लिखना सिखाया और बाये हाथ से सुन्दरी को अक विद्या अर्थात् सख्या लिखना सिखाया । इस प्रकार इस युग में भगवान् ने अपनी पुत्रियों के माध्यम से सर्व प्रथम वाङ्मय का उपदेश दिया । केवल उपदेश ही नहीं दिया, भगवान् ने दोनों पुत्रियाँ भगवान् से वाङ्मय का अध्ययन करके महान् विदुषी और ज्ञानवती बन गईं ।

इस प्रकार इस काल में लिपि विद्या और अक विद्या के आद्य आविष्कर्ता भगवान् ऋषभदेव थे । इन विद्याओं का सर्वप्रथम शिक्षण ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में नारी जाति को प्राप्त हुआ । ब्राह्मी पुत्री ने जिस लिपि का अध्ययन किया था, पश्चाद्वर्ती काल में वह लिपि ब्राह्मी लिपि कहलाने लगी । आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है । एशिया महाद्वीप की लिपियों में प्रायः जो समानता दिखाई पड़ती है, उसका कारण यही है कि वे सब ब्राह्मी लिपि से निकली हैं ।

पुत्रियों के समान पुत्रों को भी अनेक कलाओं का ज्ञान दिया। जिस पुत्र को जिस कला का ज्ञान दिया उसके लिये उस कला से सम्बन्धित शास्त्र की विस्तृत रचना की। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुत्रों को विविध विस्तृत अध्यायो से युक्त अर्थशास्त्र और प्रकरण सहित नृत्य शास्त्र पढ़ाया। वृषभमेन पुत्र के कलाओं का प्रशिक्षण लिये सौ से अधिक अध्यायो वाले गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया। अनन्तविजय पुत्र के लिये सैकड़ों अध्यायो वाली चित्रकला सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त इस पुत्र को सूत्रधार तथा स्थापत्य कला का भी उपदेश दिया। पुत्र बाहुवली को कामशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्व-विद्या, गज-विद्या, रत्न-परीक्षा आदि के शास्त्र पढ़ाये। इसी प्रकार शेष पुत्रों को द्यूतविद्या, वातालाप करने की कला, नगर-सरक्षण, पासा फेंकना, मिट्टी के वर्तन, अन्नोत्पादन, जल-शुद्धि, वस्त्र-निर्माण, शय्या निर्माण, संस्कृत कविता-रचना, प्रहेलिका-निर्माण, छन्द-निर्माण, प्राकृत गाथा-रचना, श्लोक रचना, सुगन्धित पदार्थ-निर्माण, षट्स-व्यजन-निर्माण, अलंकार-निर्माण और उनके धारण करने की विधि, स्त्री-शिक्षा की विधि, स्त्रियों के लक्षण, पुरुष लक्षण जानने की विद्या, गाय वृषभ-लक्षण जानने की विद्या, कुक्कुट-लक्षण जानने की विद्या, मेढे के लक्षण जानने की विद्या, चक्र-लक्षण जानने की विद्या, छत्र लक्षण जानने की विद्या, दण्ड-लक्षण, तलवार लक्षण, मणि-लक्षण, काकिणी-लक्षण, चर्म-लक्षण, चन्द्र-लक्षण, सूर्य-लक्षण जानने की विद्या, राहु-गति, ग्रह-गति की कला, सौभाग्य और दुर्भाग्य-लक्षण, रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान, मन्त्र-साधन विधि, गुप्त वस्तु को जानने की विद्या, प्रत्येक वस्तु का ज्ञान, सैन्य-ज्ञान, व्यूह-रचना, सेना को रण क्षेत्र में उतारने की कला, सेना का पड़ाव, नगर का प्रमाण जानने की कला, वस्तु का प्रमाण जानने की कला, प्रत्येक वस्तु के रखने की कला, नगर-निर्माण, थोड़े को बहुत करने की कला, तलवार आदि की मूठ बनाने की कला, हिरण्य-पाक, सुवर्ण-पाक, मणि-पाक, धातु-पाक, बाहु युद्ध, दण्ड युद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टि युद्ध, युद्ध-नियुद्ध-युद्धाति-युद्ध करने की कला, सूत बनाने, नली बनाने, गेद खेलने वस्तु-स्वभाव जानने, चमड़ा बनाने की कला, पत्र छेदन, कडग छेदन की कला, सजीवन-निर्जीवन कला, पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला की शिक्षा दी।

इस प्रकार पुत्र-पुत्रियों को विविध कलाओं और विद्याओं की शिक्षा देकर एक प्रकार से उन्हें जन-जन में प्रचार करने के लिये तैयार किया। भोग-युग से कर्म युग की ओर जन-मानस को तैयार करने और जन-जन का जीवन कर्म-सफूर्त करने के लिये सर्वप्रथम शिक्षकों और कार्यकर्ताओं को तैयार करने की आवश्यकता थी। भगवान ने इस कार्य के लिये अपने परिवार को ही प्रशिक्षित किया। यह असाधारण ज्ञान, विवेक, धैर्य और अध्यवसाय का कार्य था। सम्पूर्ण जन-जीवन को एकवारगी ही बदल देना सरल नहीं था, किन्तु ऋषभदेव ने भोग-युग की सम्पूर्ण व्यवस्था और बिना कार्य किये ही जीवन-यापन का स्वभाव बदल कर कर्म-युग की व्यवस्था चालू करने में कितना श्रम, पुरुषार्थ और समय लगाया होगा, यह आज हम नहीं आंक सकते।



५ ऋषभदेव द्वारा लोक-व्यवस्था

प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। भोग-युग के समय दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते थे। उनसे मनुष्य अपनी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। किन्तु अब काल के प्रभाव से कल्प वृक्ष, महौषधि, दीप्तौषधि तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गई थी। बिना बोये हुए धान्य पहले वन्य संस्कृति से खूब फलते थे, किन्तु वे भी अब बहुत कम उगते थे और उतने नहीं फलते थे। कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक से रहित हो गये। मनुष्य इस समय कच्चा अन्न खाते थे अथवा कोई कोई कल्पवृक्ष कहीं रह भी गया था, उसके फल खाते थे। उससे उन्हें नाना प्रकार के रोग होने

लगे थे। अब शीत, आतप, वर्षा और महावायु आदि की भी बाधाये सताने लगी थी।

ऐसे सकट के समय सब लोग मिलकर अपने कुलकर नाभिराज के पास गये और उन्हें अपनी कष्ट-गाथा सुनाकर जीवनोपाय पूछा। नाभिराज ने प्रजा को अपने जानी पुत्र ऋषभदेव के पास भेज दिया। सारी प्रजा ऋषभदेव के पास पहुँची और उन्हें अपनी सारी कठिनाइयाँ बताई और प्रार्थना की—हे देव ! हम भूख प्यास से व्याकुल हैं। हम लोगो की आजीविका निरुपद्रव हो सके, आप कृपा करके हमें ऐसा उपाय बताइये।

प्रजा के ऐसे दीन वचन सुनकर भगवान् दयाद्रो हो गये। उन्होंने मन में विचार किया—अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं, भोगभूमि समाप्त हो गई है, कर्म भूमि प्रगट हुई है। वर्तमान में पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो व्यवस्था प्रचलित है, यहाँ पर भी उसी व्यवस्था का प्रचलन श्रेयस्कर होगा और उसी व्यवस्था से यहाँ के मनुष्यों की आजीविका चल सकती है। ऐसा विचार कर भगवान् ने प्रजा को आश्वासन दिया। उन्हें समझाया कि 'अब भोग-भूमि समाप्त हो गई है, कर्म-भूमि प्रारम्भ हो गई है। अतः अब तुम लोगो की आजीविका के लिए कर्म करना पड़ेगा, तभी तुम लोगो का निर्वाह हो सकेगा।'

दिगम्बर परम्परा के 'आदिपुराण' आदि ग्रन्थों में संक्षेप में बताया है कि भगवान् ने प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है। लिख पढ़ कर आजीविका करना मसि कर्म कहलाता है। जमीन को जोतना बोना कृषि कर्म कहलाता है। विभिन्न विद्याओं द्वारा आजीविका करना विद्या कर्म कहलाता है। व्यापार करना वाणिज्य है। और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्प-कर्म कहलाता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के 'आवश्यक चूर्ण' आदि ग्रन्थों में आजीविका के तात्कालिक उपाय का विस्तृत विवरण मिलता है जो भगवान् ने उस समय प्रजा को बताया था। उन्होंने बिना बोये हुए धान्य को हाथ से मसल कर खाने का परामर्श दिया। लोगो ने वैसे ही किया। किन्तु उससे अपच होने लगा। तब भगवान् ने उन्हें जल में भिगोकर मुट्ठी तथा वगल में रख कर गर्म करके खाने की सलाह दी। किन्तु इससे भी अपच हो गया। तब भगवान् ने लकड़ियों को रगड़कर अग्नि उत्पन्न की और अन्न को पकाने की विधि बताई।

एक दिन मयोगवन्ध वासो आदि की स्वतः रगड़ से जगल में आग लग गई। हवा के सयोग से वह आग घटने लगी। तब लोग ऋषभदेव के पास आये और उनसे इस नये सकट की बात बताई। सुनकर भगवान् ने बताया कि आगपास की घाम माफ कर दो तो आग नहीं बढ़ेगी। लोगो ने घास, पत्ते साफ कर दिये। इससे आग का घटना रुक गया।

भगवान् ने कहा कि इस आग में अन्न को पकाकर खाया जाता है। लोगो ने आग में अन्न डाल दिया। वह जल कर राख हो गया। वे पुनः भगवान् के पास आये और बोले—आग हमारे अन्न को खा गई, हम क्या खावे। तब भगवान् ने आग के ऊपर मिट्टी के पात्र में अन्न रखकर पकाने की विधि बताई।

इसके पश्चात् भगवान् ने धान्य बोना, पानी देना, नराना और पकने पर काटकर अन्न निकालना, पीसना, गूथना और पकाना यह मारी विधि सिखाई। इस प्रकार वन्य जीवन से नागरिक सभ्यता तक आने के लिए भगवान् ने कृषि कर्म को प्रारम्भिक उपाय बताया। इसका अर्थ यह है कि आदिमानव ने नागरिक जीवन में दीक्षा लेने के लिए सर्वप्रथम कृषि को अपने जीवनोपाय के रूप में स्वीकार किया और आज सभ्यता का कितना ही विकास क्यों न हो गया हो, आज भी कृषि ही उदर-पूर्ति का एक मात्र साधन है।

ऋषभदेव ने प्रजा के जीवन-धारण की सर्वप्रमुख समस्या का समाधान किया था, इसलिए कृतज्ञ प्रजा उन्हें प्रजापति कहने लगी। उन्हीं सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—

प्रजापतियं प्रथम जिजीविषु शशास कृप्यादिषु कर्मसु प्रजा ।

भगवान् ने उक्त छह कर्मों के आधार पर तीन वर्णों की स्थापना की। इन तीन वर्णों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। उन्होंने इन वर्णों का विभाजन कर्म और व्यवसाय के आधार पर किया था, जिसमें सब मनुष्यों को अपनी-

अपनी योग्यतानुसार काम और व्यवसाय मिल सके और सभी उन कर्मों के आधार पर अपनी-
जीविका उपार्जन कर सके। अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई दूसरी

चर्ण व्यवस्था

आजीविका नहीं करता था, इसलिए वर्ण और कार्य दोनों में सकरता नहीं आने पाती थी। उस समय ससार में जितने पापरहित आजीविका के उपाय थे, वे सब भगवान ऋषभदेव की सम्मति से ही प्रवृत्त हुए थे।

जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे, जो क्षत्राण अर्थात् विपत्ति में रक्षा करते थे, वे क्षत्रिय कहलाये। जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, वे वैश्य कहलाते थे। जो शिल्प द्वारा आजीविका करते थे तथा दूसरों की सेवा करते थे, वे शूद्र कहे जाते थे।

इन तीनों वर्ण-धर्मों में क्षात्र धर्म सर्व प्रथम बताया था। इसीलिए महाभारत के शान्ति पर्व (१२।६४।२०) में ऋषभदेव को जिन्हें आदिदेव भी कहा जाता है, क्षात्रधर्म का आदि प्रवर्तक स्वीकार किया है—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः ।

पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥

अर्थात् आदिदेव से क्षात्र धर्म प्रवृत्त हुआ और अन्य शेष धर्म बाद में प्रवृत्त हुए।

वायुपुराण, पूर्वार्ध, ३३।५०-५१ में ऋषभदेव को नरेशों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण क्षत्रियों का पूर्वज कहा है—

“ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥”

इसी बात को ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ में स्वीकार किया गया है।

युगलिया काल में लोग छुट पुट रूप में इधर उधर ननों में रहा करते थे। अशन वसन भूषण व्यजन सब कुछ उन्हें वृक्षों से ही प्राप्त होता था। फिर ऐसा काल आया कि वृक्षों की संख्या घटने लगी। कवीलो से नागर कबीलो से नागर जहाँ वृक्ष शेष रह गये, वहाँ लोग कवीले बनाकर रहने लगे। वृक्षों की अल्पता के कारण जब वृक्षों के लिए सीमांकन किया गया, तब पुरुष और स्त्रियों ने अपने अपने परिकर बना लिए। भविष्य के कवीलो का यह आदिम रूप था।

भगवान ने विचार करके इन्द्र की सहायता से ग्राम, नगर, खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, सवाह आदि की रचना की। उन्होंने ५२ जनपदों की रचना की। उनके नाम इस प्रकार हैं—

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अरुमक, रम्यक, कुरु, काशी, कर्लिंग, अग, वग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर, उशोनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजागल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोकण, वनवास, आध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय।

इन जनपदों का नगरो, ग्रामो आदि में विभाग किया। उनको परिभाषाएँ निश्चित की। जिसमें घरों के चारों ओर बाड़ हो, जिसमें बगीचे और तालाव हो तथा जिसमें अधिकतर शूद्र और किसान रहते हो, वह गाव कहलाता था। जिसमें सौ घर हो वह छोटा गाव कहलाता था। छोटे गावों की सीमा एक कोस की होती थी। जिसमें पाँच सौ घर हो और किसान धन संपन्न हो, वह बड़ा गाव कहलाता था। ऐसे गावों की सीमा दो कोस की रखी गई थी। नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान अथवा पेड़, वन, पुल आदि से गावों की सीमा निर्धारित की जाती थी।

जिसमें परिखा, गोपुर, अटारी, कोट, और प्राकार हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हो, जिसमें प्रधान पुरुष रहते हो, वह पुर या नगर कहलाता था।

जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे खेट कहते थे।

जो केवल पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे खर्वट कहा जाता था।

जो पाँच सौ गावों से घिरा हुआ हो, उसे मडम्ब पुकारा जाता था।

जो समुद्र के किनारे बसा हुआ हो अथवा जहाँ नावों से आवागमन होता हो, उसे पत्तन कहा जाता था।

जो किसी नदी के किनारे बसा हुआ हो, उसे द्रोणमुख कहते थे।

जहाँ मस्तक के बराबर ऊँचे घान्य के ढेर लगे हों, उसे सवाह कहते थे।

एक राजधानी में आठ सौ गाव होते थे। एक द्रोणमुख में चार सौ गाव होते थे। एक खर्वट में दो सौ गाव

होते थे। दस गावों के बीच एक बड़ा गाव होता था। वहाँ मण्डी होती थी। जहाँ अधिकतर अहीर रहते थे, उसे घोष कहते थे। जहाँ सोने, चादी आदि की खाने होती थी, वह आकर कहलाता था।

इन्द्र ने भगवान की आज्ञा से इधर उधर बिखरे हुए लोगों को इन गावों आदि में लाकर बसाया। इन गावों आदि की संरचना में इन्द्र का बड़ा भारी योगदान था, अतः तभी से उसका नाम पुरन्दर पड़ गया।

वृक्षों का आवास छोड़ कर मानव ने प्रथम बार भवनों में अपने चरण रखे थे। यह काल वन्य जीवन की समाप्ति और नागरिक सभ्यता का प्रारम्भिक काल था। आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने यह नवीन सृष्टि की रचना की थी। इसे ही कृतयुग कहा गया है। इस कृतयुग का प्रारम्भ आपाद कृष्णा प्रतिपदा को हुआ था। तब से भगवान वृषभदेव को लोग ब्रह्मा, प्रजापति आदि नामों से पुकारने लगे।

युगलिया काल में प्रकृति में एक अद्भुत बात देखी जाती थी कि स्त्री के युगल सन्तान उत्पन्न होती थी।

इस युगल में एक कन्या होती थी और दूसरा पुत्र होता था। ये सहजात भाई-बहन ही बड़े विवाह व्यवस्था होने पर पति-पत्नी के रूप में आचरण करने लगते थे। उस समय समाज में विवाह नाम की कोई प्रथा नहीं थी। विवाह का प्रारम्भ तो ऋषभदेव का नन्दा-सुनन्दा के साथ हुए विवाह से हुआ था। किन्तु साधारण लोगों ने इसे अपने श्रद्धास्पद कुमार ऋषभदेव का एक असाधारण कार्य समझा। उनके कार्यों की नकल या अनुकरण करने की भावना तक तत्कालीन समाज में जागृत नहीं हुई थी। उसका कारण यह था कि तत्कालीन मनुष्य समाज अपने हर सुख-दुःख, हर समस्या में ऋषभदेव की मुखापेक्षी था। जब तक ऋषभदेव न कहे, तब तक परम्परा विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस और बुद्धि किसी में नहीं थी। उन्हें यह विश्वास अवश्य था कि हमारे हित में जो भी बात होगी, ऋषभदेव उसे अवश्य बतायेगे।

जब कुमार ऋषभदेव ने पट्ट कर्मों का प्रचलन कर दिया, उन कर्मों के आधार पर समाज-रचना और वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कर दी और नगरों-गावों का निर्माण कर नागर जीवन का प्रारम्भ कर दिया, तब उन्होंने समाज-व्यवस्था और विवाह-व्यवस्था की ओर अपना ध्यान दिया। उन्होंने विवाह सम्बन्धी नियम इस दृष्टिकोण से बनाये, जिसमें वर्ण-व्यवस्था में संकरता न आजाय और एक अनुशासित समाज की व्यवस्था की जा सके। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये कार्य सुलभ करना और उन्नति के समुचित अवसर प्रदान करना था तथा समाज की सभी आवश्यकताएँ जुटाना था। यदि लोग अपना कार्य छोड़कर दूसरे वर्ण का कार्य करने लगे तो उसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया क्योंकि इससे समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में बाधा आती और इस प्रकार वस्तुओं की कमी हो सकती थी। तत्कालीन समाज की मरचना को सुस्थिर रखने के लिये अपने अपने वर्ण के दायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक था। इससे अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को महत्व दिया गया था।

वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये भगवान ने विवाह की व्यवस्था की और उसके लिये आवश्यक नियम निर्धारित किये। इन नियमों के अनुसार शूद्र शूद्र-कन्या के साथ ही विवाह कर सकता था। वह क्षत्रिय और वैश्य कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता था। इसी प्रकार वैश्य वैश्य-कन्या तथा शूद्र-कन्या के साथ विवाह करने का अधिकारी घोषित किया गया। क्षत्रिय क्षत्रिय-कन्या, वैश्य कन्या और शूद्र-कन्या के साथ विवाह कर सकता था। बाद में जब चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की, तब उसके लिये विवाह सम्बन्धी यह नियम बनाया कि ब्राह्मण ब्राह्मण कन्या के साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देश में वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ भी विवाह कर सकता है। उच्च वर्ण वालों को अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने का तो अधिकार दिया गया, किन्तु निम्न वर्ण वालों को उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करने की अनुमति नहीं दी गई।

इन विवाह सम्बन्धी नियमों की भाषा और उनकी भावना को यदि हम गहराई से समझने का प्रयत्न करें तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि विवाह के विषय में पुरुष और स्त्री को समान अधिकार नहीं दिये गये थे। इन नियमों की रचना के कुछ काल पश्चात् ही पुरुषों के बहु विवाह प्रचलित हो गये थे, किन्तु स्त्रियों को बहु विवाह करने की न कभी अनुमति मिल सकी और न कभी आर्य लोगों में इसका प्रचलन ही हुआ। वस्तुतः इस प्रश्न को आर्य लोगों ने कभी स्त्री-पुरुषों के समानाधिकार का प्रश्न नहीं बनाया, किन्तु इसके मूल में पिण्डशुद्धि अर्थात् रक्त-शुद्धि की दृष्टि प्रधान रही। यदि एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ हों तो उनकी सन्तानों की रक्त-शुद्धि में

कोई बाधा नहीं आ सकती। इसके विपरीत यदि एक स्त्री के अनेक पति हो तो पिण्डशुद्धि नहीं हो सकती, बल्कि जो सन्तान होगी, वह सकर रक्त की होगी। इसी प्रकार पर स्त्री-त्याग की अपनी धार्मिक महत्ता तो है ही, किन्तु उसकी अपनी सामाजिक उपयोगिता भी है। और वह उपयोगिता है रक्त-शुद्धि की। विवाह सामाजिक संरचना को अनुशासित, नियमित और सयमित रखने का महत्वपूर्ण उपाय है। विवाह एक नैतिक बन्धन है। इस बन्धन को स्वीकार कर लेने पर पुरुष-स्त्री, पति-पत्नी समाज के स्वरूप और शुद्धि को अक्षुण्ण रखने के दायित्व को स्वेच्छा से ओढ़ लेते हैं। सभवतः इसी उद्देश्य से भगवान ने विवाह प्रथा का आविष्कार किया था।

भोगभूमि के मनुष्यों की आवश्यकताये सोमित थी, सब समान थे। आवश्यकता पूर्ति के साधन प्रचुर थे। अतः आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से हो जाती थी। किसी के मन में कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। इसलिये मनुष्यों में अपराध-वृत्ति ने जन्म नहीं लिया था। कर्म-भूमि प्रारम्भ होने पर आवश्यकता-पूर्ति के साधन सुलभ नहीं रहे, बल्कि अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ के द्वारा उन साधनों को जुटाना पड़ता था। बुद्धि और पुरुषार्थ सबके समान नहीं थे। अतः स्वभावतः असमानता बढ़ने लगी।

एक के पास आवश्यकता के साधन प्रचुर परिमाण में सन्निहित होने लगे और दूसरे को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई अनुभव होती थी। इस सामाजिक असमानता ने जहाँ परस्पर ईर्ष्या को जन्म दिया, वहाँ महत्वाकांक्षा भी जागृत हुई। इससे मनुष्यों में अपराध वृत्ति भी जागृत हुई। कुलकरो ने 'हा मा, धिक्' रूप जिस दण्ड व्यवस्था को स्थापित करके समाज को प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रित रखा था, वह व्यवस्था कर्म भूमि में आकर प्रभावहीन सिद्ध होने लगी।

भगवान ने विचार किया कि यदि अपराध-वृत्ति को नियन्त्रित रखने के लिये दण्ड-व्यवस्था स्थापित नहीं की गई तो समाज में मत्स्य न्याय चल पड़ेगा अर्थात् जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार दुष्ट बलवान पुरुष निर्बल पुरुष को निगल जायगा। ऐसी दशा में समाज में जिसकी लाठी में जोर होगा, वही भैंस हाक ले जायगा। इससे समाज में अव्यवस्था, कलह, शोषण और अत्याचार पनपेंगे। अतः दण्ड-व्यवस्था आवश्यक है। दण्ड के भय से लोग कुमार्ग की ओर नहीं दौड़ेंगे। किन्तु दण्ड देने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को तो नहीं दिया जा सकता, दण्ड केवल राजा ही दे सकता है। अतः राजा की नियुक्ति करनी चाहिये।

इधर भगवान का यह चिन्तन चल रहा था, उधर प्रजा अपराध बढ़ते जाने से परेशान थी। तब एक दिन प्रजाजन इकट्ठे होकर भगवान के पास आये और उन्हें अपनी कष्ट-गाथा सुनाई। भगवान ने कहा—अपराध दण्ड व्यवस्था से ही नियन्त्रित हो सकते हैं और दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को ही है।

प्रजाजन बोले—देव! हम तो आपको ही अपना राजा मानते हैं। आप यह पद स्वीकार कर लीजिये।

भगवान सुनकर मौन हो गये। पिता नाभिराज के होते हुए वे स्वयं कैसे राजपद स्वीकार कर सकते थे। उन्होंने अपनी कठिनाई प्रजाजनों को बताई तो वे लोग नाभिराज के पास गये और उनकी स्वीकृति लेकर फिर भगवान के पास आये। तब भगवान ने भी अपनी स्वीकृति दे दी।

उस शुभ अवसर के अनुकूल अयोध्यावासियों ने महान उत्सव किया। अयोध्या पुरी खूब सजाई गई। मकानों पर पताकाये बांधी गई। राजमन्दिर में आनन्द भेरिया बज रही थी। वाराणसा में मंगल-गान गा रही थी।

मिट्टी की एक बहुत बड़ी वेदी बनाई गई। उसके ऊपर आनन्द-मण्डप बनाया गया। उसमें भगवान का राज्याभिषेक रत्न-चूर्ण से विचित्र चौक पूरे गये। पुष्प विकीर्ण किये गये। मण्डप में रेशमी वस्त्रों के चन्दोवे ताने गये। उनमें मोतियों की झालरे टांगी गई। सधवा स्त्रियाँ मंगल द्रव्य लिये हुए मार्ग में खड़ी थीं। सेवक स्नान और प्रसाधन की सामग्री लिये हुए खड़े थे। वेदी में एक सिंहासन के ऊपर पूर्वदिशा की ओर मुख करके भगवान को बैठाया। उस समय इन्द्र भी देवताओं के साथ इस आनन्दोत्सव में सम्मिलित होने आया। गन्धर्व, किन्नर और देविया भगवान की स्तुति में मधुर गान कर रहे थे। मनुष्य अनेक नदियों का जल लाये। देवलोग भी पद्म सरोवर, नन्दोत्तरा वापिका, लवण समुद्र, क्षीर समुद्र, नन्दीश्वर समुद्र, और स्वयम्भूरमण समुद्र का पवित्र जल लाये। मनुष्यों ने भगवान का अभिषेक किया। इन्द्रों और देवों ने भी उनका

अभिषेक करके पुण्यार्जन किया। महाराज नाभिराज ने भी अपने त्रिलोक पूज्य पुत्र का अभिषेक किया। इस आनन्द अवसर पर नगरवासी भी पीछे नहीं रहे। किसी ने कमल पत्र का दीना बनाकर और किसी ने मिट्टी का घड़ा लाकर सरयू नदी के जल से भगवान के चरणों का अभिषेक किया।

भगवान के इस जलाभिषेक का क्रम इस प्रकार था—सबसे प्रथम तीर्थजल से अभिषेक किया गया। फिर कषाय जल, सुगन्ध मिश्रित जल से अभिषेक किया। फिर भगवान ने गरम जल के कुण्ड में घुस कर स्नान किया। स्नान के अनन्तर भगवान ने माला, वस्त्र और आभूषण उतार दिये और देवोपनीत माला, वस्त्र और आभूषण धारण किये। तब महाराज नाभिराज ने 'मुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति भगवान ऋषभदेव ही हैं' यह कहकर अपने मस्तक का मुकुट उतार कर अपने हाथ से भगवान के मस्तक पर धारण किया। उनके मस्तक पर पट्टवन्ध बाधा।

उस समय भगवान दिव्य अलंकार धारण किये हुए थे। वे कानों में कुण्डल, कण्ठ में हार यष्टि, कटि में करधनी, भुजाओं में कड़े, बाजूबन्द और अनन्त, चरणों में नीलमणि के नूपुर और कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। उनकी रूप छवि अद्भुत थी। इन्द्र ने भक्ति विह्वल होकर अवसर के अनुकूल आनन्द नाटक किया। फिर देव और मनुष्य अपने-अपने स्थान को चले गये।

भगवान ने दण्ड-व्यवस्था स्थापित कर दी थी। दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को है। अतः उन्होंने राजाओं की नियुक्ति करने से पहले राजाओं के लिए नियम बनाये। उन्होंने कहा—जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से बिना उसे पीड़ा पहुँचाये दूध दुहा जाता है और गाय की सुरक्षा के लिए उसे उचित राज्य-संस्थापना आहार, पान दिया जाता है। ऐसा करने से गाय भी सुखी रहती है और दूध दुहने वाले की आजीविका भी चलती है। इसी प्रकार राजा को प्रजा से धन वसूल करना चाहिए। राजा को प्रजा से अधिक पीड़ा न देने वाले कर वसूल करने चाहिए। इससे प्रजा भी दुखी नहीं होती और राजा उस धन से प्रजा की सुख-सुविधा और सुरक्षा के उपाय कर सकता है। इसलिए भगवान ने कुछ योग्य पुरुषों को दण्डधर राजा नियुक्त किया।

उन्होंने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ नामक योग्य क्षत्रियों को बुलाकर उनका यथोचित आदर सत्कार किया और उनका राज्याभिषेक करके उन्हें महामाण्डलिक राजा बनाया। इनके आधीन चार हजार राजा नियुक्त किये। कच्छ महाकच्छ आदि को अधिराज का पद दिया।

भगवान ने जिनको महामाण्डलिक राजा बनाया था, उनमें हरि और काश्यप भगवान के पुत्र थे। सोमप्रभ बाहुवली के पुत्र थे। अकम्पन का परिचय कहीं नहीं मिलता है। इन तैजस्वी राजाओं को राज्य भी दिये और इनसे वंशों का प्रचलन भी किया। हरि का नाम हरिकान्त रखा और उससे हरिवंश चला। अकम्पन का नाम श्रीधर रखा और उसको नाथवंश का संस्थापक बनाया। काश्यप को मधवा नाम दिया और उसे उग्रवंश का संस्थापक घोषित किया। सोमप्रभ को क्रूरराज की सज्ञा दी और उससे दो वंश चले—कुरुवंश और सोमवंश।

इस प्रकार भगवान ने पूर्णतः कर्मभूमि की रचना करके कुलकर-व्यवस्था समाप्त की और कर्म-व्यवस्था का प्रचलन किया और वे दीर्घ काल तक सासारिक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करते रहे। भगवान के विविध नाम और गृहस्थ जीवन का काल सारे ससार में ऋषभदेव का प्रभाव व्याप्त हो गया। प्रजाजन उनके अलौकिक व्यक्तित्व से अभिभूत थे और प्रभावित होकर उनके व्यक्तित्व के बहुरंगी रूपों और उनके विविध लोको-दयी कार्यों के कारण उनकी विविध नामों से सत्तुति करने लगे। उस काल में उनके विविध नाम प्रचलित हो गये, जैसे इक्ष्वाकु, गौतम, काश्यप, पुरु, मनु, कुलधर, विधाता, विश्वकर्मा,

प्रजापति, स्रष्टा आदि।

भगवान का कुमार काल बीस लाख पूर्व का था और राज्य काल तिरैसठ लाख पूर्व का था। इस प्रकार उनकी आयु के तिरासी लाख पूर्व व्यतीत हो गये।

६. ऋषभदेव का वैराग्य और दीक्षा

एक दिन भगवान ऋषभदेव राजदरवार में सिंहासन पर विराजमान थे। अनेक माण्डलिक राजा अपने योग्य आसनो पर बैठे हुए थे। तभी इन्द्र अनेक देवों और अप्सराओं के साथ पूजा की सामग्री लेकर भगवान की सेवा के लिए राजदरवार में आया। इन्द्र की आज्ञा से नृत्य गान में कुशल गन्धर्वों और नीलाजना का अप्सराओं ने नृत्य करना आरम्भ किया। उस नृत्य को देखकर उपस्थित जन ही नहीं, नृत्य और मृत्यु भगवान भी अनुरक्त हो गये। तभी इन्द्र ने अपने अधिज्ञान से जाना कि भगवान के वैराग्य का समय निकट आ पहुँचा है। अतः उसने नृत्य करने के लिए ऐसे पात्र को चुना, जिसकी आयु समाप्त होने वाली थी। उसकी आज्ञा से अत्यन्त सुन्दरी नीलाजना (नीलाजसा) नाम की देवर्तकी नृत्य करने लगी। नीलाजना इन्द्र-सभा में मदा ही नृत्य करती आई थी, किन्तु आज तो जैसे बुझते हुए दीपक की लौ अधिक प्रदीप्त हो उठती है, ऐसे ही उसकी बुझती हुई आयु के समय उमकी नृत्य-कला और भी अधिक मुखर हो गई। उसके कुसुम कोमल गात्र में एक ज्वालामुखी फूट पड़ा। वह पारिजात-कुसुम-गुच्छ को भाँति शोभाधारिणी अर्निद्य सुन्दरी देवागना आत्म विभोर होकर असाधारण नृत्य करने लगी। उसका चरण मानो पवन की लहरों पर थिरक रहे थे। स्वर्ण मृणाल सी उसकी कोमल भुजलताय सपिणी की भाँति हुवा में लहरा रही थी। वह इस पृथ्वी पर आज अपनी दिव्य कला को मूर्तिमती कर रही थी। एक अलौकिक रस की सृष्टि हो रही थी। उस राजदरवार में उपस्थित सभी जीवित प्राणी उस रस धारा में अपनी सुधबुध खोकर वहे जा रहे थे। शायद उस देव नर्तकी ने अपनी कला की चरम परिणति ही कर दी थी आज।

दीपक में स्नेह समाप्त हो गया। वत्ती बुझ गई। उस देव नर्तकी की आयु समाप्त हो गई। और वह क्षणभर में अदृश्य हो गई। उसके समाप्त होते ही इन्द्र ने, रस भग्न न हो, इसलिए उसके स्थान पर उसी के समान आचरण वाली दूसरी देवी खड़ी कर दी, जिससे नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा। इस घटना को किसी ने नहीं जाना। सब तन्मय होकर रस-पान करते रहे। किन्तु निमिष मात्र में जो इतनी बड़ी घटना हो गई, वह ऋषभदेव से छिपी नहीं रह सकी। स्थान वहीं था, नृत्य वहीं था, किन्तु नृत्यकारिणी वह नहीं थी, इस अन्तर को प्रभु ने देख लिया और नीलाजना की उस मृत्यु को भी। देखते ही प्रभु की भाव-धारा में अचानक ही महान परिवर्तन आ गया। चर्म चक्षुओं से देखने वाले वह नहीं देख पाते, जो अन्तर की चक्षुओं से देखने वालों को दिखाई देता है।

प्रभु के मन में भावधारा उमड़ पड़ी। नृत्य होता रहा और प्रभु के मन में नृत्य के रस-संचार के स्थान में ससार के वास्तविक स्वरूप का सवेदन प्रबल वेग से जागृत हुआ—कितना नश्वर और चंचल है ससार का यह रूप।

मनुष्य के मन में एक अद्भुत सामान्य अहंकार दबा रहता है—मैं सदा जीवित रहूँगा। वह भगवान का वैराग्य दिन रात देखता है कि दिन-रात प्राणी मर रहे हैं। सबको ही मरना है। किन्तु यह तत्त्व-दर्शन दूसरों के लिए ही होता है, अपने लिए नहीं। वह स्वयं तो सदा काल जीवन की आकाक्षा सजोये रहता है और हर कार्य ऐसे ही करता है मानो उसे सदा जीवित रहना है, मरना नहीं है। यह कितने आश्चर्य की बात है। यहाँ तक कि एक दिन मृत्यु आकर उसका द्वार खटखटाती है, उस समय भी वह जीवित रहने का ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसकी यह जीवित रहने की इच्छा और प्रयत्न क्या सफल हो पाता है। जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। लेकिन वह ऐसा प्रयत्न नहीं करता कि मृत्यु के पश्चात् उसे पुन जीवन धारण न करना पड़े। शरीर के त्याग को ही वह मृत्यु समझता है। शरीर को अपना मानता है, इसलिए वह मृत्यु से भयभीत होता है। किन्तु शरीर से ममत्व करके तो वह प्रतिपन्न मृत्यु का वरण कर रहा है, वह इस तथ्य को नहीं समझता, समझना भी नहीं चाहता।

मैंने इस मानव-पर्याय के इतने लम्बे बहुमूल्य क्षण सासारिक भोगों के क्षणिक सुख में व्यतीत कर दिये। मेरे सम्पूर्ण प्रयत्न इस शरीर के सुख के लिये ही थे। किन्तु अपनी अविनश्वर आत्मा के चिरतन, अविनाशी सुख के लिए प्रयत्न नहीं किये। शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा वह नहीं है जो बाहर से दिखाई पड़ता है। आत्मा अखण्ड

सुख का पिण्ड है, ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अनन्त विभूतियों का स्वामी है। मेरा अपना साम्राज्य नगरी पर नहीं, मनुष्यों पर भी नहीं, इस वाह्य वैभव पर भी नहीं है। मेरा साम्राज्य अगोचर है। मेरा आत्मा अक्षय लक्ष्मी का भण्डार है, अनन्त गुणों का आगार है। ये सारे भौतिक वैभव क्षणिक है, जिस शरीर के लिए ये वैभव सचय किये वह क्षणिक है, उन वैभवों से जिस सुख की कल्पना की वह क्षणिक है। चिरस्थायी है मेरी आत्मा, मेरी आत्मा की विभूति, मेरी आत्मा के गुण।

देव पर्याय मे सुख समझता है यह अज्ञ प्राणी, किन्तु नीलाजना हमारे देखते ही देखते मृत्यु को प्राप्त हो गई। इन्द्र ने यह कपट नाटक किया था और जान-बूझकर नीलाजना का नृत्य कराया। निश्चय ही इन्द्र ने यह कार्य हमारे हित के लिए किया था। इस रूप को धिक्कार है, ' इस राज्य-भोग को धिक्कार है ' इस चंचल लक्ष्मी को धिक्कार है। '

भगवान के मन में इस प्रकार निर्वेद की भावनाये पनप रही थी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब सुभे ससार से मुक्ति के लिए प्रयत्न करना है। इन्द्र ने भगवान के अन्तःकरण की सारी भावनार्यें जान ली। उसी समय भगवान की वैराग्य-भावना की सराहना करने और उनके तप-कल्याणक की पूजा करने के लिए ब्रह्मा नामक पाचवें स्वर्ग के अन्त में आठों दिशाओं में रहने वाले सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्यावाध और अरिष्ट नामक आठ प्रकार के लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक से उतरे। आकर उन्होंने पारिजात पुष्पो से भगवान के चरणों की पूजा की और उनकी निर्वेद भावना की सराहना करते हुए इस प्रकार स्तुति की—लोग आपको जगत का पालन करने वाला ब्रह्मा मानते हैं, कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने वाला विजेता मानते हैं, धर्म रूपी तीर्थ का नेता मानते हैं और सबकी रक्षा करने वाला जगद्गुरु मानते हैं। आप स्वयं बुद्ध हैं। आपको प्रतिबोध दे सके, ऐसी सामर्थ्य किसमें है ? आप प्रथम गर्भ कल्याणक में सद्योजात (शीघ्र अवतार लेने वाले) कहलाये। द्वितीय जन्म कल्याणक में रामता (सुन्दरता) को प्राप्त हुए। और तृतीय तपकल्याणक में अधोरता (सौम्यता) को धारण कर रहे हैं। भव्यजीव रूप चातक मेघ के समान आपको ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। हे देव ! अनादि प्रवाह से चला आया यह काल अब आपके धर्मावृत्त की वर्षा के उपयुक्त हुआ है। आप धर्म की सृष्टि कीजिये। प्रभो ! आप उठिये और कर्म शत्रुओं का सहार करके मोक्ष मार्ग को प्रशस्त कीजिये।

वे लौकान्तिक देव अपने इतने ही नियोग से कृतकृत्य होकर अपने स्थान को चले गये। ये देव तीर्थंकरों के तप कल्याणक से पूर्व उनकी वैराग्य-भावना की सराहना करने के लिये ही ब्रह्मलोक से आते हैं और तीर्थंकर की स्तुति करके चले जाते हैं।

भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने से पहले अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया और उन्हें अयोध्या का राज्य प्रदान किया। और युवराज पद पर राजकुमार बाहुवली को अभिषिक्त किया।

पुत्रों को राज्य-विभाजन इन दोनों पुत्रों के अतिरिक्त शेष पुत्रों को विभिन्न देशों के राज्य दिये। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख देखने में नहीं आये कि किस राजकुमार को किस देश का राज्य दिया गया। संभवतः प्राचीन साहित्य लेखकों ने इस बात को विशेष महत्व नहीं दिया हो। किन्तु

जिन देशों के राज्य उन राजकुमारों को दिये गये, उनके नाम अवश्य उपलब्ध होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

कुरुजागल, पंचाल, सूरसेन, पटञ्चर, तुलिंग, काशी, कोशल, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुण्डीयान, कौशल्य और मोक ये मध्य देश थे।

वाल्हीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वाथतोय, शूर, बालवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तर की ओर स्थित थे।

खड्ग, अगारक, पौण्ड्र, मत्तल, प्रवक, मस्तक, प्राद्योतिष, वग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे।

वाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अरुमक, दाण्डीक, कलिंग, आसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन ये दक्षिण दिशा के देश थे।

माल्य, कल्लिवनोपान्त, दुर्ग, सुर्पर, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ,

सुराष्ट्र और नर्मद ये सब पश्चिम दिशा में स्थित थे।

दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे।

भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भग, सैतव, और वज्रखण्डिक ये देश मध्य देश के आश्रित थे।

भगवान ने पुत्रों को राज्य देकर अभिनिष्क्रमण की तैयारी की। देवों ने क्षीरसागर का जल लाकर

भगवान का अभिषेक किया, उत्तम गन्ध से लेपन किया, दिव्य वस्त्राभूषण और मालाओं से

भगवान का भगवान का शृंगार किया। उस समय अयोध्या नगरी में दो महान हर्षोत्सव हो रहे थे—

अभिनिष्क्रमण भगवान का दीक्षा कल्याणक और भरत-बाहुवली का राज्याभिषेक। एक ओर देवशिल्पी

भगवान को वन में ले जाने के लिए सुदर्शना पालकी का निर्माण कर रहे थे, इन्द्राणी स्वयं

रत्नचूर्ण से चौक पूर रही थी। दिक्कुमारियाँ मंगल द्रव्य सजाए खड़ी थी, देव लोग भगवान के चरणों में पुष्पाजलि क्षेपण कर रहे थे, अप्सराएँ नृत्य कर रही थी, देव नाना प्रकार के बाजे बजा रहे थे। दूसरी ओर शिल्पी मण्डप बनाने में जुटे हुए थे, माता नन्दा, सुनन्दा स्वयं सुन्दर चौक पूर रही थी, सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगल कलश और मंगल द्रव्य लिए हुए खड़ी थी, पुरवासी आशीर्वाद और मंगल कामना के शेषाक्षत फेंक रहे थे, वारागनाये नृत्य कर रही थी, अन्तःपुर की स्त्रियाँ मंगलगान कर रही थी। पौरजन दोनों ही उत्सवों में हर्ष और मोद से भाग ले रहे थे।

भगवान पुत्रों को राज्य सौंपकर निराकुल हो गए थे। अतः अपने माता-पिता मरुदेवी और नाभिराज तथा अन्य परिवारीजनों से पूछ कर सुदर्शना पालकी की ओर बढ़े। पालकी में चढ़ते समय भगवान को इन्द्र ने हाथ का सहारा दिया। भगवान जब शिविका में आरूढ़ हो गए, तब उसे उठाने के लिए इन्द्र आगे बढ़े। उधर मनुष्यों ने भी पालकी को उठाना चाहा। इस विषय पर देव और मनुष्यों में एक रोचक विवाद उत्पन्न हो गया। विवाद था अधिकार के प्रश्न पर। पालकी को कौन पहले उठावे—देव या मनुष्य? देवों का पक्ष था—भगवान जब गर्भ में आए, उससे भी छह माह पूर्व से हम लोग भगवान की सेवा में तत्पर हैं। जन्म के समय हम भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले गए। वहाँ हमने भगवान का अभिषेक किया। भगवान के अशन, वसन, अलंकार हम ही जुटाते रहे। तब इस अवसर पर भगवान की सेवा का प्रथम अवसर पाने का अधिकार हमारा है। मनुष्यों का तर्क था कि तुम लोगों को हमने भगवान की सेवा का सदा अवसर दिया, किन्तु आखिर भगवान हमारी ही जाति मनुष्य-जाति के हैं! उनकी सेवा के इस अवसर को हम तुम्हें नहीं दे सकते।

वात भगवान तक पहुँची। देव और मनुष्यों ने भगवान के पास जाकर फरियाद की और भगवान से निर्णय मांगा। सुनकर तीन ज्ञान के धारी भगवान मुस्कराए और बोले—‘तुम दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सही कह रहे हो, किन्तु मेरी पालकी को उठाने का प्रथम अधिकार उनको है जो मेरे समान समय धारण कर सके।’

भगवान के न्याय में किसी को सन्देह नहीं था। दोनों ने सिर झुकाकर भगवान का निर्णय मान्य किया। देव लोग एक ओर हट गए। राजा लोगो ने समय धारण करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने ही सर्व प्रथम पालकी को उठाया और सात पग ले गए। फिर विद्याधर लोगो ने सात पग तक पालकी उठाई। इसके पश्चात् इन्द्रो और देवों ने पालकी को उठाया और आनन्दपूर्वक ले चले।

इस मंगल अवसर पर सुगन्धित शीतल पवन बह रहा था। देव लोग आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा कर रहे थे और दुन्दुभी नाद कर रहे थे। इन्द्र दोनों ओर खड़े होकर चमर ढोल रहे थे। इन्द्र की आज्ञा से देव लोग घोषणा करते चल रहे थे—‘जगद्गुरु भगवान ऋषभनाथ कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने अभिनिष्क्रमण कर रहे हैं।’ अप्सरायें नृत्य कर रही थी। किन्नरिया गीत गारही थी। जयजयकार और वाद्योंसे तुमुल कोलाहल हो रहा था।

भगवान की पालकी के पीछे यशस्वती और सुनन्दा आदि रानियाँ राजसी परिवेश को छोड़कर सादा वेष में चल रही थी। महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ भगवान का तप कल्याणक उत्सव देखने भगवान की दीक्षा के लिए चल रहे थे। भरत आदि राजा और भाई, परिजन और पुरजन भी पूजा की सामग्री लेकर भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे। कुछ दूर जाकर वृद्ध जनो ने रानियों और स्त्रियों के आगे जाने से रोक दिया और वे शोकाकुल हृदय से वहाँ से नगर को लौट गईं। किन्तु यशस्वती, सुनन्दा और

मरुदेवी भगवान के पीछे-पीछे चलती रही।

भगवान इस प्रकार सिद्धार्थक वन में पहुँचे। देवों ने उस वन में एक वृक्ष के नीचे चन्द्रकान्त मणि की एक शिला पहले से स्थापित कर रखी थी। उस शिला के ऊपर वस्त्रों का मण्डप बनाया गया था। इन्द्राणी ने रत्नों के चूर्ण से चीक पूरा था। घिमे हुए चन्दन के छोटे डाले थे। मण्डप के ऊपर बहुरंगी पताकायें फहरा रही थी। वृक्षों की झुकी हुई डालियों से गुगन्धित पुष्प विकीर्ण हो रहे थे। शिला के चारों ओर सुगन्धित धूप का धूम्र उड़ रहा था।

भगवान वहाँ आकर पालकी में उतरे और शिला पर विराजमान हो गए। तब भगवान ने प्रजाजनों से कहा—‘भव्यजनों! तुम लोग शोक का परित्याग करो। प्रत्येक संयोग का वियोग होता है। जब इस शरीर का भी एक दिन वियोग होना है तो अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या है। मैंने आप लोगों की रक्षा के लिए अत्यन्त चतुर भरत को नियुक्त किया है। आप लोग निरन्तर अपने धर्म का पालन करते हुए उसकी सेवा करना।’

यह कहकर भगवान ने माता-पिता, बन्धुजन तथा समागत जनों से पूछकर अन्तरंग, बहिरंग, दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया। उन्होंने वस्त्राभूषण आदि उतारकर एक ओर फेंक दिए। फिर पूर्व दिशा की ओर मुख करके पश्चामन में विराजमान होकर ‘नम मिद्धेभ्य’ कहा और पंच मुष्टियों से केश लुचन किया। इस प्रकार भगवान ने चैत्र कृष्णा नवमी के मायकाल के समय उत्तराषाढ नक्षत्र में जिन दीक्षा धारण करली। दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्ययज्ञान की प्राप्ति हो गई।

‘ये केश भगवान के सिर पर चिरकाल तक रहे हैं अतः पवित्र हैं’ यह विचार कर इन्द्र ने एक रत्न मजूपा में उन केशों को रम लिया और उस मजूपा को एक ध्वज वस्त्र में बाँध लिया। ‘ये केश भगवान के मस्तक के स्पर्श से श्रेष्ठ हैं अतः उन्हें ऐसे स्थान पर रखना चाहिए, जहाँ इनके सम्मान में कोई बाधा न आवे’ यह विचार कर इन्द्र बड़े आदर से उन्हें ले गया और पवित्र क्षीरसागर में उन्हें प्रवाहित कर दिया। भगवान ने जिन वस्त्रों, आभरणों और माला आदि का त्याग किया था, वे सब वस्तुएँ भी भगवान के स्पर्श में पवित्र थी, अतः देवों ने उनकी भी पूजा की।

इस कल्प काल में यह सर्व प्रथम जिन दीक्षा थी।

भगवान ने जिन-दीक्षा ली, वे निर्ग्रन्थ दिग्मन्वर हो गये। उस समय मुनि-धर्म के सम्बन्ध में लोगों को कोई ज्ञान नहीं था। किन्तु स्वामी ने दीक्षा ली है, अतः हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए, यह विचार कर इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र और भोजवशी चार हजार स्वामिभक्त राजाओं ने भी नग्न दीक्षा ले ली। वे लोग भगवान के उच्च आदर्श और उद्देश्य से अनभिज्ञ थे, अतः उनमें से कुछ भगवान के स्नेह से, कुछ मोह से और कुछ लोग भय से भगवान को दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हो गये।

इन्द्रो और देवों ने भगवान की स्तुति की। इन्द्र भगवान के उस वीतराग रूप को देखता रह गया। तब उसने सहस्र नेत्र धारण कर देखना प्रारम्भ किया। किन्तु क्या उस त्रिलोक सुन्दर कमनीय रूप को देखकर किसी की तृप्ति हुई है। इसीलिए तो आचार्य मानतुंग ने कहा है—‘दृष्ट्वा भवन्तमनिभेषविलोकनीयं। नान्यत्र तोषभुषयाति जनस्य चक्षुः॥’ आचार्य ने यह बात केवल भक्तिवश ही नहीं कही है कि ‘प्रभो! जिन शान्तस्वभावी परमाणुओं से आपका शरीर निर्मित हुआ है, ससार में ऐसे परमाणु बस इतने ही थे क्योंकि आपके समान रूप अन्यत्र नहीं मिलता।’ आचार्य ने जो कहा, वह यथार्थ का ही कथन है।

इसके पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये। तब महाराज भरत ने अष्ट-द्रव्यों से भगवान का पूजन किया, भगवान की स्तुति की। और सूर्यास्त होने पर भी अन्य जनों के साथ अपने स्थान को लौट गये।

भगवान ने जहाँ दीक्षा ली थी, वह स्थान ‘प्रयाग’ नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस नामकरण का हेतु देते प्रयाग तीर्थ हुए आचार्य जिनसेन ने बताया है कि—

एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन्।

प्रदेशं स प्रजागारूपो यत पूजार्थं योगत ॥ हरिवंश पुराण ६।६६

अर्थात् भगवान ने जब भरत को प्रजा का रक्षक नियुक्त करने की बात कही तो प्रजा ने भगवान की पूजा की। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान पूजा के कारण ‘प्रजाग’ इस नाम को प्राप्त हुआ।

ऋषभदेव का वैराग्य और दीक्षा

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने भी 'प्रयाग' नाम की प्रसिद्धि का कारण बताते हुए निम्न भाति कह.

प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः ।

प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः ॥ पद्मपुराण ३।२८१

—भगवान् ऋषभ देव प्रजा अर्थात् जन समूह से दूर हो उस उद्यान में पहुँचे थे, इसलिए उस स्थान का नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया अथवा भगवान् ने उस स्थान पर बहुत बड़ा याग अर्थात् त्याग किया था, इसलिए उस स्थान का नाम प्रयाग भी प्रसिद्ध हो गया ।

इस प्रकार भगवान् के महान् त्याग का स्थान होने से जनता उस स्थान को प्रयाग कह कर पूजने लगी और वह एक परम पावन तीर्थ क्षेत्र बन गया ।

भगवान् शरीर से भी ममत्व का परित्याग करके और मन-वचन-काय को एकाग्र करके छह माह के तपोभ्रष्ट मुनिवेशी उपवास की प्रतिज्ञा लेकर कायोत्सर्ग आसन से विराजमान हो गए । उस आसन से खड़े हुए मरीचि का विद्रोह भगवान् का तेज-पुंज चारों ओर विकीर्ण हो रहा था । खड़े हुए, हाथ नीचे को लटके हुए, अर्धोन्मीलित नासाग्र दृष्टि, दोनों पैरों के अग्रभाग में बारह अंगुल का तथा एडियो में चार अंगुल का अंतर था । भगवान् की देखा देखी वे मुनिवेशी चार हजार राजा कायोत्सर्ग आसन में खड़े हो गए ।

भगवान् तो निश्चल, निष्पन्द और अनासक्त भाव से ध्यानलीन थे । किंतु वे कच्छ, महाकच्छ आदि राजा लोग एक-दो दिन बाद ही भूख प्यास से व्याकुल होने लगे । उन्हें खड़े रहने में भी कष्ट होने लगा । व्याकुल होकर वे बार-बार इधर उधर इस आशा में देखने लगे कि हमारे स्त्री-पुत्र या सेवक भोजन लेकर आने वाले होंगे । किन्तु कोई भी भोजन लेकर नहीं आया । उन्हें यह भी आशा थी कि भगवान् २-४ दिन बाद स्वयं भी भोजन करेंगे और हमें भी भोजन करावेंगे । किन्तु यह आशा भी पूर्ण नहीं हुई । न जाने किस कार्य के उद्देश्य से भगवान् इस प्रकार खड़े हुए हैं । राजाओं के जो सन्धि विग्रह आदि छह गुण होते हैं, उनमें खड़े रहना भी कोई गुण है, ऐसा तो हमने कभी नहीं पढ़ा । ऐसा लगता है, भगवान् तो निराहार रहकर प्राण छोड़ने के लिए उत्सुक हैं, किन्तु हम तो इस प्राणघाती तप से आजिज आ गये । इसलिए भगवान् जब तक अपना यह ध्यान समाप्त नहीं करते, तब तक हम लोग इस वन में ही उत्पन्न होने वाले कन्द मूल फल खाकर अपने प्राण धारण करेंगे ।

इस प्रकार तथाकथित मुनियों में अनेक लोग भगवान् के चारों ओर एकत्रित हो गये और यह आशा करने लगे कि भगवान् हमारी दशा को देखकर हम पर दया करेंगे । अगर हम अभी भगवान् को छोड़कर अपने घर जाते हैं तो महाराज भरत हम पर कुपित होंगे । अगर हम भगवान् के समान निराहार रहते हैं तो हमारे प्राण चले जायेंगे । बेचारे बड़े सकट में थे, क्या करे, कुछ समझ नहीं पड़ता था ।

ऐसी स्थिति में कुछ लोग भगवान् से कहकर और कुछ लोग बिना कहे ही वहाँ से अन्यत्र चले गये और तालाबों का जल पीने लगे, कन्द मूल फल खाने लगे । ऐसा करते हुए देखकर वन देवता ने उन्हें समझाया—यह दिगम्बर मुनि-वेष अत्यन्त पवित्र है । इस वेष को लाञ्छित मत करो । अपने हाथों से फल मत तोड़ो, नदी-सरोवर में से जल मत पीओ ।

वनदेवता के द्वारा इस प्रकार भर्त्सना करने पर उन्हें दिगम्बर वेष में रहते हुए मुनि धर्म के विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस नहीं हुआ । अतः कुछ लोग वल्कल पहनने लगे, किन्हीं ने लंगोटी धारण करके भस्म लगा ली, कोई जटाधारी बन गये, कुछ एकदण्डी और त्रिदण्डी बन गये । और भोपड़ी बनाकर वही वन में रहने लगे । वे ऋषभदेव को ही अपना भगवान् मानते थे और जल, फल-फूलों से उनकी पूजा करते थे ।

इन भ्रष्ट मुनियों में कच्छ, महाकच्छ और मरीचि (भरत के पुत्र) ने सबसे अधिक विद्रोह का भण्डा उठाया । मरीचि ने तो एक स्वतन्त्र धर्म की ही घोषणा कर दी । उसने भगवान् के विरोध में नाना मिथ्या मान्यताओं की कल्पना की और उनका प्रचार किया ।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि भगवान् ने सत्य धर्म की देशना भी नहीं दी, उससे पूर्व ही उनके ही पौत्र ने ससार में मिथ्या धर्म का प्रचार करना आरम्भ कर दिया । उन भ्रष्ट तपस्वियों में से अनेक लोग मरीचि के परिकर में आजुडे । सबके मन में भगवान् ऋषभदेव के प्रति हार्दिक श्रद्धा थी, किन्तु सब अनजाने ही, परिस्थितियों से बाध्य होकर भगवान् के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो गये ।

७. भगवान मुनि-दशा में

मुनि अवस्था में भगवान ने कठोर साधना का अवलम्बन लिया। उनका अधिकांश समय ध्यान में व्यतीत होता था। वे अष्टाईस मूल गुणों का दृढतापूर्वक पालन करते थे। अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, अपरिग्रह महाव्रत ये पंच महाव्रत, ईर्या समिति, भाषा समिति, ऐषणा भगवान की कठोर समिति, आदान निक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति ये पांच समितियाँ, स्पर्शनेन्द्रिय निरोध, साधना रसनेन्द्रिय निरोध घ्राणेन्द्रिय निरोध, चक्षु इन्द्रिय निरोध, कर्णेन्द्रिय निरोध ये पंचेन्द्रिय निरोध, सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्यास्थान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक, केशलोच, भूमिशयन, अदन्तधावन, नग्नत्व, अस्नान, सटं होकर भोजन करना और एक बार ही दिन में भोजन करना ये साधु के अष्टाईस मूल गुण बताये हैं।

भगवान ने छह माह तक निराहार रहकर अनशन तप का आचरण किया। किन्तु इसका भगवान के शरीर पर किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। वन्कि इससे उनका तेज और ओज अधिक उज्ज्वल हो गया। उनके अतिशय तेज के कारण सारा वन-प्रान्त प्रकाशित रहता था। भगवान के तप और तेज का ही यह अतिशय था कि जाति विरोधी जीव भी भय और क्रूरता का त्याग करके बड़े प्रेम से वहाँ आकर बैठते और शान्ति का अनुभव करते थे। उस वन-प्रदेश में कैसा अद्भुत दृश्य दीख पड़ता था—सिंह, हरिण परस्पर किलोल करते थे। चमरी गाय की-पूँछ के बाल कटीली भाड़ियों में उलझ गये और बाघ ने आकर अपने पंजों से उन्हें छुड़ाया। अवोध हरिण-शिशु शेरनी का दूध पी रहे थे और सिंह-भावक हिरणी को अपनी माता समझकर उनके स्तनों से दुग्ध पान कर रहे थे।

मत्त गज सरोवरों पर जाते और सूँड में जल भर लेते तथा पुष्पित कमल लाते। कमल-पुष्प भगवान के चरणों में चढ़ा देते और सूँड में भरे हुए जल से भगवान के चरणों का अभिषेक करते। प्रकृति के सभी तत्त्व जैसे भगवान की सेवा के लिये होड़ कर रहे थे। सिद्धार्थक वन के सभी वृक्ष पुष्पों से झुके जा रहे थे। झुककर वृक्ष भगवान के ऊपर पुष्प-वर्षा कर रहे थे। पुष्पों का पराग लेकर भ्रमर उड़ते और आकर भगवान के ऊपर बिखेर जाते। वायु पुष्प-पराग को लेकर मचलता डोलता। वसन्त के भ्रम में कोयल और पपीहा मधुर गान गाते। पक्षी चहचहाते। बादल आकर भगवान के ऊपर शीतल छाया करते।

भगवान के दिव्य तेज के प्रभाव से वह वन एक आश्रम बन गया था।

भगवान छह माह तक एक ही स्थान पर ध्यानारूढ़ रहे। इतने समय में उनके बाल बढ़ गये और जटायें बन गईं। यद्यपि तीर्थंकरों के नख और केश नहीं बढ़ते। किन्तु ऋषभदेव के सम्बन्ध में सर्वात्र इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि उनकी जटायें बढ़ गईं। आचार्य जिनसेनकृत 'आदि पुराण' में इस प्रकार का भगवान की जटायें उल्लेख इस सम्बन्ध में मिलता है—

‘सस्कार विरहात् केशा जटीभूतारतदा विभोः।

नूनं तेऽपि तपःक्लेशमनुसोढु तथा स्थिताः ॥

मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूर प्रसन्नुः पवनोद्धताः।

ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥१८॥ ७५-७६॥

अर्थात् उस समय भगवान के केश सस्कार रहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे। और वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानो तपस्या का क्लेश सहने के लिये ही वैसे कठोर हो गये हो। वे जटायें वायु से उड़कर महामुनि भगवान ऋषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गई थी। वे ऐसी जान पड़ती थी मानो ध्यान रूपी अग्नि से तपाये हुए जीव रूपी स्वर्ण की कालिमा ही हो।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने 'पद्म पुराण' में भगवान की जटाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

‘वातोद्धृता जटास्तत्र रेजुराकुलमूर्जयः।

धूमाल्य इव सद्ध्यान वह्निसक्तस्य कर्मणः ॥३॥ २८८ ॥

अर्थात् हवा से उड़ी हुई उनकी अस्त व्यस्त जटायें ऐसी जान पड़ती थी मानो समीचीन ध्यान रूपी अग्नि से जलते हुए कर्म के धूम की पकितया ही हो।

आचार्य जिनसेन ने इस बात की पुष्टि करते हुए 'हरिगण पुराण' में इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

‘सप्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुजिष्णुरावभौ।

रूढाप्रारोह शाखाग्रो यथा न्यग्रोधपादपः ॥ ६। २०४ ॥

अर्थात् लम्बी-लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चटवृक्ष से शाखाओं के पाये लटक रहे हो।

जटाओं सम्बन्धी इस प्रकार के वर्णन अन्य किसी तीर्थकर के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थ में नहीं मिलते। यही कारण है कि अन्य तीर्थकरों की प्रतिमाओं के सिर पर घु घराले कुन्तल मिलते हैं, किन्तु भगवान् ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमाओं पर विभिन्न शैलियों की जटायें और जटा-जूट मिलते हैं। इस विषय में देवगढ स्थित आदिनाथ-प्रतिमाओं का केश-विन्यास उल्लेखनीय है। वहाँ ऋषभदेव की प्रतिमाओं पर सभ्यत मनुष्य की कल्पना में आसकने वाली जटाओं की विविध शैलिया उपलब्ध होती है। स्कन्धों पर लहराती जटायें, कटिभाग तक बल खाती जटायें, चरण चुम्बी जटायें, जटागुल्म, जटा-जूट, शिखराकार जटायें, जुल्फों वाली जटायें, पृष्ठ भाग विहारिणी जटायें। लगता है, कलाकारों की कल्पनाओं की उड़ान केश-विन्यास और केश-प्रसाधनों के सम्बन्ध में जितनी दूरी तक जा सकती थी, उनके अनुसार उन्होंने पाषाण पर अपनी छैनी-हथौड़ी की सहायता से उकेरी है। सभ्यत इस क्षेत्र में स्त्रियों की आधुनिक केश-सज्जा भी उनसे स्पर्धा करने में सक्षम नहीं है। ऐसी प्रतिमाओं के लाछन (चिह्न) को देखे बिना ही केवल जटाओं के कारण ऋषभदेव की प्रतिमाओं की पहचान की जा सकती है। किन्तु यहाँ आकर देवगढ के कलाकारों ने अपनी सीमाओं का भी उल्लंघन कर दिया है। उन्होंने केवल ऋषभदेव-प्रतिमाओं को ही जटाओं से अलंकृत नहीं किया, अपितु अन्य तीर्थकर-प्रतिमाओं पर भी जटाओं का भार लाद दिया है। यदि उन प्रतिमाओं की चरण-चौकी पर उन तीर्थकरों के लाछन अंकित न होते तो उन्हें ऋषभदेव की प्रतिमा ही मान लिया जाता। किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि भारतीय मूर्ति-विज्ञान के क्षेत्र में जटाओं की इस परिकल्पना ने एक नये शिल्प-विधान और एक नये सौन्दर्य-बोध की सृष्टि की है। केश-कला के इस वैविध्य ने मूर्तियों के अलंकरण को एक नई दिशा प्रदान की है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव तपस्या में लीन थे। उन्होंने अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकार का परिग्रह और ममत्व का त्याग कर दिया था। ऐसी ही स्थिति में एक दिन कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि भगवान् के निकट आये। वे बड़ी भक्ति से भगवान् के चरणों में लिपट गये और बड़ी दीनतापूर्वक कहने ब्रिह्माधर जाति पर आधिपत्य को भुला ही दिया। हम भी तो आपके ही हैं। अब हमें भी कुछ दीजिये।’

उस समय भगवान् ने अपने मन को ध्यान में निश्चल कर लिया था। किन्तु भगवान् के तप के प्रभाव से घरणेन्द्र (भवनवासी देवों की एक जाति नागकुमार के इन्द्र) का आसन कम्पित हुआ। उसने अवधिज्ञान से सब बातें जान ली। वह उठा और पूजा की सामग्री लेकर भगवान् के समीप पहुँचा। उसने आकर भगवान् की प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया और उनकी स्तुति की। फिर अपना वेश छिपाकर दोनों कुमारों से कहने लगा—‘भद्र पुरुषो! तुम लोग भगवान् से वह वस्तु माग रहे हो जो उनके पास नहीं है। भगवान् तो भोगों से निस्पृह हैं और तुम उनसे भोग माग रहे हो। तुम पत्थर पर कमल उगाना चाहते हो। यदि तुम्हें भोगों की इच्छा है तो भरत के पास जाओ। वही तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर सकता है। भगवान् तो निस्पृह हैं उनके पास तुम व्यर्थ ही धरना देकर बैठे हो।’

घरणेन्द्र के वचन सुनकर दोनों कुमार उत्तेजित हो गये। वे क्षोभ में भरकर कहने लगे—‘आप तो भद्र पुरुष प्रतीत होते हैं, फिर भी आप दूसरों के कार्य में बाधा डालने को तत्पर दिखाई देते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। क्या भगवान् को प्रसन्न करने में भी आपको अनौचित्य दिखाई पड़ता है। भगवान् के चरणों में आज भी

सारा जगत विनत है। भगवान् वन में आ गये हैं तो इससे क्या उनका प्रभुत्व नहीं रहा। आप भरत के पास जाने का परामर्श दे रहे हैं। किन्तु जब कल्पवृक्ष सामने विद्यमान हो तो क्या कोई विवेकी पुरुष उसे छोड़कर अन्य सामान्य वृक्ष के पास जायगा।

कुमारो के भक्ति भरे वचन सुनकर धरणेन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और अपना असली रूप प्रगट करके अपना परिचय देकर बोला—‘मैं भगवान् का साधारण सेवक हूँ। आप लोगों की इच्छा पूर्ण करने के लिये ही यहाँ आया हूँ।’

धरणेन्द्र के वचन सुनकर दोनों कुमारो को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अनुभव किया कि भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न हैं। फिर धरणेन्द्र उन्हें अपने साथ विजयार्थ पर्वत पर ले गया। कुमार पर्वत की शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे थे। वृक्ष फल-फूलों से आच्छादित थे। कहीं भरने भर रहे थे, कहीं जल-प्रपात घोर गर्जना करते हुए पहाड़ से गिर रहे थे। प्रपात के गिरने से फेनिल जल बहुत ऊँचाई तक उछलता और उसके जल-सीकर वायु में मिलकर वर्षा की फुहारों का आनन्द देते थे। पर्वत के वन में नाना जाति के पशु विचरण कर रहे थे। अनेक विद्याधर और विद्याधरियाँ वन-विहार या जल क्रीड़ा करती हुई दिखाई दे रही थी। उन्हें देखकर यह भ्रम उत्पन्न हो जाता था कि ये कहीं स्वर्ग के देव-देवियाँ तो नहीं हैं—वैसा ही अप्रतिम रूप, वैसा ही स्वच्छन्द विचरण, वैसी ही आनन्द-कैलि और वैसा ही मुक्त हास्य। कुमार यह सब देखकर मुग्ध हो गये।

धरणेन्द्र उन्हें लेकर पर्वत पर उतरा और रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर में प्रवेश किया। फिर धरणेन्द्र ने विद्याधरो को बुलाकर उनसे कहा—‘जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव ने इन कुमारो को यहाँ भेजा है। ये आज से तुम्हारे स्वामी हैं। यह कुमार नमि दक्षिण श्रेणी का अधिपति होगा और कुमार विनमि उत्तर श्रेणी पर राज्य करेगा।’

विद्याधरो ने धरणेन्द्र की यह आज्ञा स्वीकार कर ली। तब धरणेन्द्र ने उन दोनों कुमारो का राज्याभिषेक किया और राज-सिंहासन पर बैठाया। उसने उन दोनों को गान्धारपदा और पन्नगपदा विद्याएँ दी। फिर अपना कार्य पूरा करके वह वहाँ से चला गया। विद्याधरो ने दोनों कुमारो को सिर झुकाकर नाना प्रकार की भेटें दी। यद्यपि वे कुमार जन्म से विद्याधर नहीं थे, किन्तु उन्होंने वहाँ रह कर अनेक विद्याएँ सिद्ध कर ली। इस प्रकार नमि दक्षिण श्रेणी के पचास नगरो का स्वामी हुआ और विनमि उत्तर श्रेणी के साठ नगरो का स्वामी हुआ। नमि अपने वन्धुजनो के साथ रथनूपुर में रहने लगा और विनमि नभस्तिलक नामक नगर में रह कर राज्य करने लगा।

भगवान् ने निराहार रह कर प्रतिमायोग धारण कर छह मास तक तपस्या करने का जो नियम लिया था वह पूर्ण हुआ। निराहार रहने से न तो भगवान् का शरीर कृश हुआ और न उनके तेज में ही अन्तर पड़ा।

वे चाहते तो बिना आहार के ही आगे भी तपस्या करते और इसका उनके शरीर पर भी राजकुमार श्रेण्यास कोई प्रभाव न पड़ता, किन्तु उन्होंने विचार किया कि वर्तमान में अथवा भविष्य में मोक्ष-
द्वारा दान तीर्थ प्राप्ति के उद्देश्य से जो लोग तप करेंगे, यदि वे आहार नहीं करेंगे तो आहार के अभाव
की प्रवृत्ति में उनकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। मोक्ष, अर्थ और काम का साधन धर्म पुरुषार्थ है। धर्म

का साधन शरीर है और शरीर अन्न पर निर्भर है। अतः परम्परा से अन्न भी धर्म का साधन है। अतः इस भरत क्षेत्र में शासन की स्थिरता और मनुष्यों की धर्म में आस्था बनाये रखने के लिये मनुष्यों को निर्दोष आहार ग्रहण करने की विधि दिखानी होगी। अतः परोपकार के लिए उन्होंने गोचर विधि से अन्न ग्रहण करने का विचार किया।

भगवान् अपना ध्यान समाप्त करके आहार के लिए निकले। उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त होने तक मौन व्रत ले लिया था। वे चान्द्री चर्या से विचरण करते हुए मध्याह्न के समय किसी नगर या ग्राम में चर्या के लिए जाते थे। प्रजाजन मुनिजनोचित आहार की विधि नहीं जानते थे, न उन्होंने कभी किसी को मुनि को आहार देते हुए देखा-सुना था। किन्तु भगवान् ने उनकी अपार श्रद्धा थी। भगवान् का दर्शन पाकर वे हर्षित हो जाते थे और

भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए वे विविध प्रकार के उपायन—भेंट लाकर भगवान के चरणों में चढ़ा देते थे। कोई वस्त्राभूषण लाता, दूसरा कोई गन्ध, माल्य, विलेपन, रत्न, मुक्ता, गज, अश्व या रथ लाकर भगवान की भेंट चढ़ाता। किन्तु भगवान उन वस्तुओं की ओर देखे बिना ही आगे बढ़ जाते थे। इससे लोग अपनी कोई कल्पित भूल या कमी का अनुभव करके बड़े खिन्न हो जाते। किन्तु उन्हें एक सन्तोष भी था कि आज हमें भगवान के दर्शन हो गये।

भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर पहुँचे। भगवान को निराहार विहार करते हुए छह माह व्यतीत हो चुके थे। हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ थे और उनके लघु भ्राता राजकुमार श्रेयान्स थे। ये दोनों वाहु-वली के यशस्वी पुत्र थे। कुमार श्रेयान्स ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न में उसने चन्द्रमा, इन्द्र की ध्वजा, सुमेरु पर्वत, विजली, कल्पवृक्ष, रत्नद्वीप, विमान और भगवान ऋषभदेव देखे।

हरिवंश पुराण के इस स्वप्न-वर्णन से आदि पुराण के स्वप्न-विवरण में कुछ अन्तर है। आदि पुराण के अनुसार श्रेयान्स ने स्वप्न में सुवर्णमय सुमेरु पर्वत, आभूषणों से सुशोभित कल्पवृक्ष, अयाली वाला सिंह, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, और अष्टमंगल द्रव्य धारण किये हुए व्यन्तरो की मूर्तियाँ देखी। एक अन्तर यह भी है कि आदिपुराण के अनुसार ये स्वप्न केवल श्रेयान्स ने देखे थे, जबकि हरिवंश पुराण के अनुसार ये स्वप्न दोनों भाइयों ने देखे थे।

श्रेयान्सकुमार प्रातः काल उठे और वे अपने भाई के पास गये। उन्होंने उनसे अपने स्वप्नों की चर्चा की। राजपुरोहित ने स्वप्न सुन कर उनका यह फल बताया—सुमेरु देखने से यह प्रगट होता है कि सुमेरु के समान उन्नत और सुमेरु पर्वत पर जिसका अभिषेक हुआ है, ऐसा कोई देव आज अवश्य ही हमारे घर आवेगा। अन्य स्वप्न भी उसके गुणों को प्रगट करते हैं। आज हमें जगत में प्रशंसा और सम्पदा प्राप्त होगी।

ये लोग स्वप्न-चर्चा कर रहे थे, उसी समय भगवान ने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। नगरवासी भगवान के दर्शनों के लिए एकत्रित होने लगे। लोग आपस में कह रहे थे—हम लोग जगत के पालनकर्त्ता पितामह भगवान ऋषभदेव का नाम बहुत दिनों से सुनते आ रहे थे, आज वे हमारा पालन करने के लिए वन छोड़कर हमारे इस नगर में साक्षात् पधारे हैं। आज हमारा पुण्योदय हुआ है कि हम अपने नेत्रों से उन भगवान के दर्शन करेंगे।

कुछ लोग भक्तिवश, कुछ लोग उत्सुकतावश भगवान के दर्शनों के लिए एकत्रित हो गये। जनता की भीड़ के कारण राजमार्ग और राजमहल तक भर गये। किन्तु भगवान मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का विचार करते हुये चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए मन्थर गति से जा रहे थे। इस प्रकार भगवान चर्या के लिये गृहस्थों के घरों में प्रवेश करते हुए राजभवन में पहुँचे।

सिद्धार्थ नामक द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयान्स को राजभवन में भगवान के आने का समाचार दिया। सुनते ही वे दोनों अन्तःपुर की रानियों, मन्त्रियों और राजपुरुषों के साथ आगमन में आये। उन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान को नमस्कार किया। भगवान के चरणों को जल से धोकर अर्घ्य चढ़ाया और उनकी प्रदक्षिणा दी। उनके मन में भक्ति और हर्ष का अद्भुत उद्रेक हो रहा था।

तभी एक अद्भुत घटना हुई। भगवान का रूप देखते ही श्रेयान्सकुमार को जाति स्मरण ज्ञान हो गया तथा पूर्वजन्म में मुनियों को दिये हुये आहार की विधि का स्मरण हो आया। उसे श्रीमती और वज्रजघ के भव सम्बन्धी उस घटना का भी स्मरण हो गया, जब चारण ऋद्धिधारी दो मुनियों को आहार दान दिया था। जाति स्मरण होते ही उसने श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अक्षोभ, क्षमा और त्याग इन सात गुणों से युक्त होकर—जो एक दान देने वाले के लिये आवश्यक हैं—निदान आदि दोषों से रहित होकर 'भो स्वामिन्' अन्न तिष्ठ तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है' इस प्रकार मुनिराज को पङ्गाह कर उन्हें उच्च आसन पर विराजमान किया। उनके चरणों का प्रक्षालन किया, उनकी पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, अपने मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक आहार-शुद्धि का निवेदन किया। इस प्रकार नवधा भक्तिपूर्वक श्रेयान्स कुमार ने दान के विशिष्ट पात्र भगवान को प्रासुक आहार का दान दिया। अकिंचन भगवान ने खड़े रह कर हाथों में ही (पाणि पात्र होकर) आहार ग्रहण किया।

उस समय वहा पर इक्षु-रस से भरे हुये कलश रक्खे थे। श्रेयान्सकुमार ने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती के साथ भगवान को उसी इक्षु-रस का आहार दिया। इधर भगवान की अञ्जलि में इक्षु-रस की धारा पड़ रही थी, उधर भगवान के आहार के उपलक्ष्य में देव लोग रत्नों की वर्षा कर रहे थे। कुछ देव पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव हर्ष से भेरी-ताडन कर रहे थे। शीतल सुगन्धित मन्द पवन वहने लगा, और देव लोग आकाश में 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता' इस प्रकार कह कर दान की अनुमोदना कर रहे थे। तीर्थङ्करो के आहार के समय ये पांच वाते अवश्य होती है, जिन्हे पचाश्चर्य कहते हैं।

दोनों भाइयों के मन में हर्ष का मानो सागर ही उमड़ पड़ रहा था। आज त्रिलोक पूज्य तीर्थङ्कर प्रभु ने उनके घर पर पधार कर और आहार लेकर घर द्वार को पवित्र किया था। अनेक लोगो ने इस दान का अनुमोदन करके पुण्य-लाभ किया। आहार करके भगवान वन में लौट गये। दोनों भाई भी कुछ दूर तक भगवान के साथ गये। किन्तु जब लौटे तो वे रह रह कर भगवान को ही देखते जाते थे। उनकी दृष्टि और चित्तवृत्ति भगवान की ओर ही लगी रही। भगवान के चरण जहा पड़े थे, उस स्थान की धूल को उठाकर वे बार बार माथे से लगाते थे। मन में भगवान की मूर्ति और गुणों का अनुस्मरण करते जाते थे। वे जब लौटे तो सारा आगम प्रजा-जनों से सकुलित था। सब लोग उन दोनों भाइयों के ही पुण्य की सराहना कर रहे थे।

राजकुमार श्रेन्यास के कारण ही ससार में दान देने की प्रथा प्रचलित हुई। दान देने की विधि भी श्रेन्यास ने ही सबसे पहले जानी। सम्राट् भरत को भी बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि श्रेन्यास कुमार ने भगवान के मन का अभिप्राय कैसे जान लिया। विशेष कर उम्र दशा में, जब कि भगवान मौन धारण करके विहार कर रहे थे। देवों ने आकर कुमार श्रेन्यास की पूजा की। महाराज भरत भी हस्तिनापुर पहुँचे। वे अपने कुतूहल को रोक नहीं पाये। उन्होंने श्रेन्यास से पूछा—'हे कुस्वश शिरोमणि ! मुझे यह जानने का कुतूहल हो रहा है कि तुमने मौनधारी भगवान का अभिप्राय कैसे जान लिया ? दान की विधि को अब तक कोई नहीं जानता था, उसे तुमने कैसे जान लिया ? तुमने दान-तीर्थ की प्रवृत्ति को है, तुम धन्य हो। हमारे लिए तुम भगवान के समान ही पूज्य हो। तुम महापुण्यवान हो।'।

सम्राट् के सराहना भरे शब्दों को सुन कर श्रेन्यास कुमार प्रसन्न होता हुआ बोला—'जब मैंने भगवान का रूप देखा तो मेरे मन में अपार हर्ष हुआ। तभी मुझे जाति स्मरण हो गया जिससे मैंने भगवान का अभिप्राय जान लिया। जब भगवान विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रजघ की पर्याय में थे, तब मैं इनकी श्रीमती नामक स्त्री था। उस पर्याय में वज्रजघ सहित मैंने दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आहार-दान दिया था। यह सब मुझे स्मरण हो आया था। इसलिए भगवान को मैंने आहार-दान दिया।

इसके पश्चात् श्रेन्यास कुमार ने भगवान के पिछले भवों का वर्णन किया। और दान देने की विधि विस्तारपूर्वक बताई। तब महाराज भरत ने दोनों भाइयों के प्रति बड़ा अनुराग प्रगट किया और उनका खूब सम्मान किया।



८. भगवान को कैवल्य की प्राप्ति

तीर्थङ्कर भगवान जिनकल्पी होते हैं। तीर्थङ्करो और साधारण मुनियों में एक भौतिक अन्तर यह भी है कि साधारण मुनियों को प्रारम्भिक अवस्था में स्थविरकल्पी होना पड़ता है और वे जिनकल्पी होने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। मुनि-पद के ये दो भेद हैं—स्थविरकल्प और जिनकल्प। (त्रिशल्य रहित होकर पंच महाव्रतो और उनकी

भावनाओं का पालन करना, व्रतों के चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करना, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना, मुनियों के साथ रहना, उपदेश देना, शिष्यों को दीक्षा देना स्थाविर कल्प कैवल्य प्राप्ति कहलाता है। और व्रतों का पालन करते हुये एकल विहार करना, सदा आत्म चिन्तन में लीन रहना यह जिनकल्प कहलाता है। तीर्थङ्कर भगवान के किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। अतः उन्हें प्रतिक्रमण, छेदोपस्थापना चारित्र्य धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे केवल सामायिक चारित्र्य में ही रत रहते हैं।

भगवान ऋषभदेव छह प्रकार के बाह्य तप तथा छह प्रकार के आभ्यन्तर तपों का सदा अभ्यास करते रहते थे। यद्यपि भगवान चार ज्ञान के धारी थे, फिर भी वे घोर तप और साधना में निरत रहते थे। इससे उनका मन स्थिर हो गया था और वे सकल्प-विकल्प रहित होकर आत्म-ध्यान करते थे। भगवान को ससार में धर्म की प्रवृत्ति भी चलानी थी, अतः वे अन्य मुनियों में धर्म की प्रवृत्ति चलाने के लिए स्वयं भी कुछ ऐसे धर्माचरण करते थे जो उनके लिए आवश्यक न था। जैसे स्वाध्याय। भगवान द्वादशांग के वेत्ता थे, चार ज्ञान के धारी थे। उन्हें स्वाध्याय की आवश्यकता न थी। फिर भी वे स्वाध्याय करते रहते थे, जिससे अन्य मुनियों में स्वाध्याय की वृत्ति जागृत हो सके। वे नवीन कर्मों का सवर और पूर्वोपाजित कर्मों की निर्जरा करने के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषद् जय और चारित्र्य को दृढता से पालन करते थे। वे ध्यान की सिद्धि के लिए अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का ही आश्रय लेते थे। वे पर्वत, वन, गुफा, सरितातट या शिलातल पर ध्यान लगाकर खड़े हो जाते थे। कभी महा भयकारी श्मशान भूमि में जाकर ध्यान लगाते थे।

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था में एक हजार वर्ष तक अनेक देशों में विहार करते हुए भगवान पुरिमताल नगर के शकट या शकटास्य नामक उद्यान में पहुँचे। वे पूर्व दिशा की ओर मुख करके एक वट वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर ध्यान में लीन हो गये। उन्होंने शुक्ल ध्यान द्वारा क्षपक श्रेणी में आरोहण किया। इससे उनकी आत्मा में परम विशुद्धि प्रगट होने लगी। उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का विनाश कर दिया। मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म भी नष्ट हो गये। इन चारों घातिया कर्मों के नष्ट होते ही उनकी आत्मा केवलज्ञान से मण्डित हो गई। वे लोकालोक के देखने वाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। उन्हें अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, चारित्र्य, शुद्ध सम्यक्त्व, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य ये नौ लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को उत्तराषाढ नक्षत्र में भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

केवलज्ञान प्राप्त होते ही इन्द्र और देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उन्होंने केवलज्ञान महोत्सव मनाया। सम्पूर्ण आकाश देवताओं की जय ध्वनियों और वाद्यों के तुमुल घोष से व्याप्त हो गया। देव लोग पुष्प-वर्षा करने लगे। प्रकृति ने भी अपनी प्रसन्नता प्रगट करने में बड़ी उदारता दिखाई। शीतल सुगन्धित पवन बहने लगी। पवन में जल सीकरो ने मिलकर सम्पूर्ण जीवों को आल्हाद से भर दिया। आकाश से बिना बादलों के ही मन्द-मन्द वृष्टि होने लगी। तीनों लोकों में सभी जीवों को आनन्द का अनुभव हुआ।

भगवान को जिस वट वृक्ष के नीचे अक्षय ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, न केवल वह ज्ञान ही पूज्य हो गया, बल्कि वह वट वृक्ष भी अक्षय वट कहलाने लगा। वह वट वृक्ष भगवान के केवलज्ञान अक्षय वट का स्मरण कराता है, इसलिये भक्तजन वहाँ की यात्रा करने लगे।

अक्षय वट सदा से तीर्थ स्थान रहा है, इस बात का समर्थन अनेक प्रमाणों से होता है। नन्दिसघ की गुर्वावली में अन्य तीर्थों के साथ अक्षयवट का भी उल्लेख मिलता है—‘श्री सम्मेद गिरि-चम्पामुरी, ऊर्जयन्त गिरि—अक्षयवट—आदीश्वर दीक्षा सर्व सिद्धक्षेत्र कृत यात्राणा’ इसमें अक्षयवट को तीर्थ-स्थान माना है।

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर के निर्देशन में देवों ने समवसरण की रचना की। बाहर रत्नचूर्ण से निर्मित बहुरंगी धूलिसाल प्राकार था। उसमें चारों दिशाओं में स्वर्ण के खम्भों पर चार तोरण द्वारा बनाये थे। उन द्वारों पर मत्स्य बने थे तथा रत्नमालाये लटकी हुई थी। धूलिसाल के अन्दर समवसरण की रचना प्रवेश करने पर चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ बने थे। ये मानस्तम्भ एक जगती पर थे। उस जगती के चारों ओर तीन-तीन कोट थे और उनमें भी गोपुर द्वार बने हुए थे। उन कोटों के बीच में तीन कटनीदार एक-एक पीठिका बनी थी। इसी पीठिका पर ये मानस्तम्भ स्थित थे। इन पर घण्टा, चमर, ध्वजाये फहरा रही थी। मानस्तम्भों के मूल भाग में अर्हन्तों की स्वर्णमय प्रतिमाये विराजमान थी। मानस्तम्भ के शीर्ष पर तीन छत्र सुशोभित थे। इन्हें इन्द्रध्वज भी कहा जाता है। इन मानस्तम्भों को देखने मात्र से अभिमानी जनो का अभिमान गलित हो जाता है। इन मानस्तम्भों के निकट नन्दोत्तरा नाम की वावडिया बनी थी। आगे जाने पर जल से भरी हुई परिखा बनी हुई थी। लतावन थे। उनमें लता मण्डप बने थे। उनमें चन्द्रकान्त मणि की शिलाये थी। इन्द्र यहाँ आकर इन पर विश्राम किया करते थे।

कुछ आगे बढ़ने पर एक स्वर्णकोट मिलता था जो समवसरण भूमि को घेरे हुए था। उस कोट में चार विशाल गोपुर द्वार बने हुए थे। इन द्वारों में एक सौ आठ मंगल द्रव्य रक्खे थे। गोपुर द्वारों के भीतर जाने वाले मार्ग पर दो-दो नाट्यशालाये बनी थी। मार्ग के दोनों ओर घूप घटों में सुगन्धित घूप का धूआ निकलता रहता था। कुछ दूर आगे अशोक, मत्पपर्ण, चम्पक और आम्र उद्यान बने थे। उनमें जाने के लिये वीथिकाये बनी थी।

अशोक उद्यान के मध्य में एक विशाल अशोक वृक्ष था। यह तीन कटनीदार एक पीठिका पर स्थित था। उसके निकट मंगल द्रव्य रक्खे थे। यह एक चैत्य वृक्ष था। इस पर ध्वजाये फहरा रही थी। उसके शीर्ष पर तीन छत्र थे, जिनमें मोतियों की झालरे लटक रही थी। वृक्ष के मूल भाग में अष्ट प्रातिहार्ययुक्त जिनेन्द्र देव की चार प्रतिमाये विराजमान थी। इस प्रकार चैत्य वृक्ष अन्य वनों में भी थे। इन वनों के अन्त में वनवेदिका बनी हुई थी। यहाँ जो वापिकाये हैं, उनमें स्नान करने मात्र से एक भव दिखाई पड़ता है तथा वापिका के जल में देखने से भावी सात भव दीखते हैं।

वहाँ सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वन वेदिका, स्तूप, तोरण सहित मानस्तम्भ और ध्वज-स्तम्भ थे। इनकी ऊँचाई तीर्थंकरों के शरीर से बारह गुनी होती है। वहाँ जो ध्वजाएँ होती हैं, उनमें माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस गरुण, सिंह, बैल, हाथी और चक्र के चिन्ह होते हैं। हर दिशा में प्रत्येक चिन्ह वाली ध्वजाओं की संख्या एक सौ आठ होती है।

वहाँ कल्प वृक्षों का भी वन था। उन कल्प वृक्षों के मध्य भाग में सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। इन पर सिद्ध भगवान की प्रतिमाये विराजमान होती है। जो महावीथिया बनी हुई थी, उनके मध्य में नौ-नौ स्तूप खड़े हुए थे। इन स्तूपों में अर्हन्तों और सिद्धों की प्रतिमाये विराजमान थी। इन स्तूपों पर वन्दनमालाये लटकी हुई थी, छत्र लगे हुए थे, पताकाये फहरा रही थी, मंगल द्रव्य रक्खे थे। एक-एक स्तूप के बीच में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। इन स्तूपों की ऊँचाई चैत्य वृक्षों के समान होती है।

सर्व प्रथम लोक स्तूप होते हैं। ये नीचे वेत्रासन के समान, मध्य में झालर के समान, उसके ऊपर मृदग के समान और अन्त में तालवृक्ष के समान लम्बी नालिका से युक्त होते हैं। इन स्तूपों में लोक की रचना बनी होती है। इन लोक स्तूपों से आगे मध्यलोक स्तूप होते हैं। इनके भीतर मध्य लोक की रचना होती है। इनसे आगे मन्दर स्तूप होते हैं, जिन पर चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमाये विराजमान होती हैं। इनके आगे कल्पवास स्तूप होते हैं, जिनमें कल्पवासियों की रचना बनी होती है। उनके आगे ग्रैवेयको के आकार वाले ग्रैवेयक स्तूप होते हैं। उनके आगे अनुदिश नामक नौ स्तूप होते हैं। आगे चलकर सर्वार्थ सिद्धि नामक स्तूप होते हैं। इनसे आगे भव्यकूट स्तूप होते हैं। इन्हें अभव्य जीव नहीं देख सकते, देखने पर वे अन्धे हो जाते हैं। इनसे आगे प्रमोह स्तूप होते हैं। इन्हें देखकर लोग विभ्रम में पड़ जाते हैं और चिरकाल से अभ्यस्त गृहीत वस्तु को भी भूल जाते हैं। आगे चलकर प्रबोध स्तूप होते हैं। इन्हें देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त होते हैं और साधु बनकर ससार से छूट जाते हैं।

स्तूपो से आगे चलने पर चतुर्थकोट आता है। इसके गोपुरो पर रत्नदण्ड हाथ में लिये कल्पवासी देव द्वारपाल के समान पहरा देते हैं।

इनसे आगे रत्नस्तम्भो पर आधारित आठवीं श्रीमण्डप भूमि थी। इसी भूमि में सोलह दीवालों के बीच में बारह कक्ष होते हैं। ये सभा कक्ष होते हैं। इनमें पहले कक्ष में ऋद्धिधारी गणधर देव और मुनि बैठते हैं। इस कक्ष से आगे दीवाल होती है। फिर दूसरा कक्ष है, जिसमें कल्पवासिनी देवियाँ बैठती हैं। तीसरे कक्ष में आर्यिका और श्राविकाये बैठती हैं। चौथे कक्ष में ज्योतिष्क देवों की देवियाँ, पाचवे कोठे में व्यन्तर देवियाँ, छठवे कक्ष में भवनवासी देवियाँ, सातवे कक्ष में भवनवासी देव, आठवे कक्ष में व्यन्तर देव, नौवें कक्ष में ज्योतिष्क देव, दसवें कक्ष में अच्युत स्वर्ग तक के देव और इन्द्र, ग्यारहवें कक्ष में चक्रवर्ती राजा और मनुष्य बैठते हैं और बारहवें कक्ष में पशु-पक्षी वर और भय त्यागकर बैठने हैं।

इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसाय, सन्देह और विविध विपरीतता से युक्त जीव भी नहीं होते। समवसरण में जिनेन्द्र देव का माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वर, कामवाधा तथा क्षुधा-तृषा की पीड़ाये नहीं होती।

चारों दिशाओं में चार वीथियाँ बनी हुई थी। इन वीथियों का सामने तथा बारह कक्षों के द्वार के सामने सीढियाँ बनी होती हैं। ये सीढियाँ तीन पीठिकाओं के लिये होती हैं, जो एक दूसरे के ऊपर बनी होती हैं। पहली पीठिका पर अष्ट मंगल द्रव्य होते हैं और यक्ष धर्मचक्रों को अपने सिर पर उठाये हुए खड़े रहते हैं। इन धर्मचक्रों में एक-एक हजार आरे होते हैं। इन धर्मचक्रों की कुल संख्या चार हजार होती है। दूसरी पीठिका पर मयूर और हंसों के चिन्ह वाली ध्वजाओं के अतिरिक्त आठ ध्वजाये रहती हैं। तीसरी पीठिका पर गन्धकुटी होती है। उसमें रत्नमय सिंहासन होता है। उस पर जिनेन्द्र प्रभु विराजमान होते हैं। यह तीसरी पीठिका तीन कटनी वाली होती है। गन्धकुटी के ऊपर शिखर होते हैं। उन शिखरों पर ध्वजाये फहराती रहती हैं। उनमें मोतियों की झालर लटकती रहती हैं।

भगवान ऋषभदेव उस सिंहासन पर विराजमान थे। वे सिंहासन में चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे। भगवान के पीछे रत्न निर्मित अशोक वृक्ष था। देव लोग पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव दुन्दुभि-घोष कर रहे थे। भगवान का आसन अनर्घ्य, बहुमूल्य रत्न निर्मित था। भगवान के मुख-कमल से वादलों की गर्जना के समान दिव्य-ध्वनि निकल रही थी। भगवान के सिर पर तीन छत्र थे। यक्ष भगवान के चारों ओर चोसठ चमर ढोल रहे थे। और भगवान के शरीर से निकलती हुई प्रभा का एक मण्डल सा बन गया था जो भामण्डल या प्रभा मण्डल कहा जाता है। इस प्रकार ये अष्ट प्रातिहार्य थे, जो भगवान के लोकोत्तर व्यक्तित्व को प्रगट कर रहे थे।

देवालय अथवा जिनालय समवसरण की प्रतिकृति होते हैं। समवसरण की रचना कुवेर करता है। समवसरण भूमि भूमि-तल से एक हाथ ऊँची होती है। उससे एक हाथ ऊँची कल्प भूमि होनी है। यह भूमि कमलाकार होती है। इसमें गन्धकुटी कर्णिका के समान होती है और शेष रचना कमल-दल के समान होती है। गन्धकुटी के चारों ओर मानागण नाम की भूमि होती है। यही खड़े होकर इन्द्रादि भगवान की पूजा करते हैं। इसमें चार वीथियाँ होती हैं। इन वीथियों के मध्य में चार मानस्तम्भ होते हैं। इनमें मूर्तियाँ विराजमान होती हैं। जहाँ खड़े होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भों की पूजा करते हैं, वह आस्थानागण भूमि कहलाती है। ये मानस्तम्भ बारह योजन दूर से दिखाई देते हैं। ये मानस्तम्भ दो हजार पहलू के होते हैं। इनके शीर्ष पर चारों दिशाओं में सिद्ध प्रतिमा विराजमान रहती हैं। इनकी पालिकाओं पर स्वर्णघट रखे रहते हैं।

समवसरण में कोट, वापिका, नृत्यशालाये, तोरण, गोपुर, एक सौ आठ मंगल द्रव्य, वन, चैत्यवृक्ष, पताकायें, घण्टे, मंगल कलश, सिद्धार्थ वृक्ष, स्तूप, अन्तर्वेदिका, भवन, इन्द्रध्वज, महोदयमण्डप, श्रीमण्डप, गन्धकुटी, सिंहासन, अष्ट प्रातिहार्य आदि की रचना रहती है।

जिनालय में भी कुछेक रचनाओं को छोड़कर प्रायः सभी रचना किसी न किसी रूप में रहती हैं। (वृहत्स-

हिता (अध्याय ५६ श्लोक १७-१८) में मन्दिरों के २० भेद गिनाये हैं। इन भेदों में चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशात्री, सर्वतोभद्र भी परिगणित हैं। अग्निपुराण (अध्याय १०४ श्लोक १३-२०) में ४५ प्रकार के मन्दिर गिनाये हैं। इनमें चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र मन्दिर भी हैं। अधिकांश जिनालय चतुष्कोण मिलते हैं। किन्तु कुछ अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र या सर्वतोभद्र भी मिलते हैं।

साधारणतः प्रत्येक मन्दिर के आठ अंग होते हैं—अधिष्ठान, वेदिवन्ध, अन्तरपत्र, जघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते हैं—आमलक, आमलिका और कलश। पचायतन शैली का मन्दिर ही पूर्ण मन्दिर कहलाता है। इस शैली में गर्भगृह, प्रदक्षिणा पथ, अन्तराल, महामण्डप और अर्धमण्डप ये पाँच प्रकार की रचनाएँ होती हैं। अधिकांश मन्दिरों पर शिखर की संयोजना होती है। वस्तुतः शिखर कलाश और सुमेरु पर्वत की ही अनुकृति है। वेदी गन्धकुटी की प्रतिरूप है। वेदी में सिंहासन होता है, जिस पर प्रतिमा विराजमान होती है। प्राचीन प्रतिमाओं में अष्ट प्रातिहार्य अवश्य अंकित किये जाते थे। क्योंकि अरहन्त और तीर्थंकर-प्रतिमाओं की पहचान अष्ट प्रातिहार्य से ही की जाती है। अष्ट प्रातिहार्य रहित प्रतिमा सिद्धों की बतलाई है। प्राचीन काल में अष्ट प्रातिहार्यों का अकन प्रतिमा के साथ ही होता था। किन्तु आधुनिक काल में प्रतिमाएँ अलग निर्मित होती हैं और अष्ट प्रातिहार्यों में भामण्डल, छत्र, चमर और आसन पृथक्-पृथक् रहते हैं। शेष चार प्रातिहार्यों की रचना मूर्ति के पीछे दीवाल पर किसी न किसी रूप में कर दी जाती है। वर्तमान मूर्ति-विज्ञान में सौंदर्य का विशेष ध्यान रखा जाता है, किन्तु मूर्ति-शिल्प के शास्त्रीय पक्ष और भावना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसको समझने के लिये हमें मूर्ति-विज्ञान के क्रमिक विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी। (इसका सविस्तर वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया गया है।

(वेदी पर लघु शिखर, मन्दिर के ऊपर शिखर, ध्वजा, वेदी अथवा सिंहासन पीठ पर धर्मचक्र की संरचना समवसरण की रचना का स्मरण कराती है। सिंहासनासीन प्रतिमा तीर्थंकर की प्रतीक है। पद्मासन या खड्गासन में ध्यानस्थ, अर्धोन्मीलित नयन, नासाग्र दृष्टि, घु घुराले कुन्तल, छाती पर श्रीवृक्ष के आकार का श्रीवत्स लाछन, हथेलियों और पैरों के तलवों में मांगलिक चिह्न ये सब चिह्न तीर्थंकरों के स्मारक चिह्न हैं। जिनालय मनुष्यों की दृष्टि से निर्मित किये जाते हैं। इसलिए जिनालयों में द्वादश सभा-मण्डप नहीं बनाये जाते, केवल एक सभा-मण्डप बनाया जाता है। प्राचीन काल में जिनालयों के आगे मानस्तम्भ-निर्माण की परम्परा रही है। किन्तु जबसे नगर अधिक जन-सकुल होने लगे और नगरों के बीच में स्थान की कठिनाई आने लगी, जिनालयों के आगे मानस्तम्भ निर्माण की परम्परा कम होती गई। यही कारण है कि नगरों के मध्य बने हुए प्रायः अधिकांश जिनालयों में मानस्तम्भ नहीं मिलते। कुछ भी हो, मन्दिरों और मूर्तियों के रूप में प्राचीन काल की अपेक्षा अब कितना ही परिवर्तन क्यों न आया हो, किन्तु उनमें समवसरण का मूलरूप अब भी सुरक्षित है।

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। त्रिलोकीनाथ भगवान् सिंहासन पर विराजमान थे। वे अष्ट प्रातिहार्य विभूति से सम्पन्न थे। उस समय भगवान् पूर्व दिशा की ओर मुख करके विराजमान थे। किन्तु दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् का मुख उनकी ओर है। चारों दिशाओं में दर्शक ओता बैठे हुए थे और भगवान् के मुख चारों दिशाओं में देख रहे थे। उनके नेत्र टिमकार रहित थे। उनके शरीर से प्रभा की अजस्र किरणें फूट रही थीं। उन्हें अब किसी इन्द्रिय पर निर्भर नहीं रहना था। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र पाँचों इन्द्रियों ने अपना व्यापार बन्द कर दिया था। जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो, अनन्त वीर्य और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो, उसे सीमित इन्द्रिय व्यापार से क्या प्रयोजन रह गया था। सूर्य का प्रकाश होने पर टिमटिमाते दीपक का कोई काम नहीं रह जाता। उनको अनन्त सुख प्राप्त था, इसलिये क्षुधा तृष्णा आदि की बाधा और अन्न-निर्भरता दूर हो गई थी। (वे आत्मिक स्वतंत्रता के उस विहान में पहुँच चुके थे, जहाँ सम्पूर्ण पौद्गलिक आधीनताएँ और अपेक्षाएँ छूट चुकी थीं।)

(चारों जाति के देव और इन्द्र भगवान् का केवल ज्ञान कल्याणक उत्सव मनाने आये। सर्व प्रथम सौधमैन्द्र

ने जमीन पर घुटने टेककर भगवान को प्रणाम किया। उस समय का दृश्य अद्भुत था। ससार की भौतिक विभूति से सम्पन्न इन्द्र आत्मा की सम्पूर्ण आध्यात्मिक विभूति से सम्पन्न भगवान के चरणों में झुक रहा था, मानो भौतिक सम्पदा आत्मिक सम्पदा की महानता के प्रति सिर झुका रही थी और यह स्वीकार कर रही थी कि आत्मिक वैभव के समक्ष ससार का सारा वैभव तुच्छ है, नगण्य है। इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग में जो देदीप्यमान मणि लगी हुई थी, क्या उसकी समानता चक्रवर्ती की अशेष सम्पदा कर सकती है। किन्तु जब इन्द्र ने भगवान के चरणों में नमस्कार किया, उस समय समस्त चराचर को अपनी प्रभा से प्रकाशित करने वाली इन्द्र की वह मुकुट-मणि भगवान के चरण के अग्रूठे के नाखून की प्रभा के समक्ष मन्द पड़ गई। इतना ही नहीं, उस नाखून की प्रभा से वह मणि चमकने लगी। इसी आशय को व्यक्त करते हुए भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुङ्ग कहते हैं—

‘भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकं दलित पापतमो वितानम्।

सम्यक् प्रणम्य जिनपाद युग युगादाबालम्बन भवजले पतता जनानाम्॥

आचार्य के ये भक्तिनिर्भर उद्गार तथ्य को ही प्रगट करते हैं। जिस शरीर के भीतर अनन्त ज्ञान से प्रकाशमान आत्मा विराजमान है, उस शरीर की आभा भी असाधारण होती है।

तदनन्तर इन्द्रो ने और देवो ने खड़े होकर अपने हाथों से गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत और अमृत पिण्डों द्वारा भगवान के चरणों की पूजा की। इन्द्राणी ने भगवान के आगे रत्न चूर्ण से विविध रंगी मण्डल पूरा। फिर उसने रत्नों की भृंगार की नाल से भगवान के समीप जल धारा छोड़ी और दैवी सुगन्ध से भगवान के पादपीठ की पूजा की। इसी प्रकार उसने मोतियों से, कल्पवृक्ष के पुष्पों की मालाओं से, रत्नदीपों से, थाल में धूप और दीपक रखकर अमृतपिण्ड से, फलों से, जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की। फिर इन्द्र ने भगवान की स्तुति की।

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही भगवान की आत्मा निकलक, निर्लेप, निरावरण और शुद्ध हो गई थी। उनकी पवित्रता सर्वाङ्गसम्पूर्ण थी। उनकी आत्मा की शक्ति और प्रभाव अनन्त था। इसलिये कुछ अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हुईं, जिन्हें अतिशय कहा जाता है। ऐसे अतिशय-जो केवल ज्ञान जन्य थे दस हुए। धवलाकार उनकी सख्या ग्यारह बताते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(सौ योजन तक चारों ओर सुभिक्ष होना, आकाशगमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चारों ओर सुख, छाया रहितता, निनिमेष दृष्टि, विद्याओं की ईशाना, नख और रोमों का न बढ़ना, अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा अन्य अक्षरानक्षरात्मक भाषाओं में दिव्य ध्वनि)।

इसी प्रकार देव कृत चौदह और धवलाकार के मत से तेरह अतिशय होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(सख्यात योजनो तक वन का फल फूलों से युक्त होना, सुगन्धित वायु, जाति विरोधी जीवों का सह अस्तित्व, भूमि की निर्मलता, सुगन्धित जल की वर्षा, फल भार से नम्रीभूत शस्य, सब जीवों को आनन्द, शीतल पवन, निर्मल जल से परिपूर्ण तडाग, निर्मल आकाश, रोगादि न होना, यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर चार धर्मचक्र, चारों दिशाओं में छप्पन स्वर्ण-कमल की रचना)।

श्वेताम्बर परम्पराओं में मान्य चौतीस अतिशय—समवायाग सूत्र में तीर्थंकरों के ३४ अतिशय इस प्रकार बताये हैं—

(१ केशरोम और श्मश्रु का न बढ़ना, २ शरीर का रोग रहित और निर्लेप होना, ३ रक्त-मांस का गोदुग्ध के समान सफेद होना, ४ श्वासोच्छ्वास का उत्पल कमल के समान सुगन्धित होना, ५ आहार-नीहार का अदृश्य होना, ६ आकाशगत चक्र का होना, ७ आकाशगत छत्र का होना, ८ आकाशगत श्वेत चामर होना, ९ आकाशस्थ स्फटिक सिंहासन का होना, १० हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का आकाश में आगे चलना, ११ तीर्थंकर भगवान जहाँ ठहरे, वहाँ फल फूल युक्त अशोक वृक्ष का होना, १२ मुकुट के स्थान से थोड़ा पीछे की ओर तेजो मण्डल का सब दिशाओं को प्रकाशित करना, १३ भूमि का रमणीक होना, १४ काटो का अधोमुख होना, १५ ऋतुओं का सुखदायी होना, १६ शीतल सुखद मन्द पवन से चार-चार कोस तक स्वच्छता का होना, १७ जल बिन्दुओं से भूमि की धूल का शमन होना, १८ पाँच प्रकार के अचित्त फूलों का जानु प्रमाण ढेर लगना, १९

अशुभ रूप-रस गन्ध-स्पर्श-शब्द का अयत्कर्ष होना, २० शुभ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द का प्रकट होना, २१ बोलते समय भगवान के गम्भीर स्वर का एक योजन तक पहुँचना, २२ अर्धमागधी भाषा में भगवान का धर्मोपदेश, २३ अर्ध मागधी भाषा का आर्य-अनार्य मनुष्य और पशुओं की अपनी-अपनी भाषा के रूप में परिणत होना, २४ भगवान के चरणों में पूर्व भव के वैरी देव, असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन से धर्म श्रवण करना, २५ अन्य तीर्थ के वादियों का भी भगवान के चरणों में आकर वन्दना करना, २६ वाद के लिये आये हुए प्रतिवादी का निरुत्तर होना, २७ जहाँ भगवान का विहार हो, उसके पच्चीस योजन तक ईति का न होना, २८ पच्चीस योजन तक मारी का न होना, २९ स्वचक्र का भय न होना, ३० परचक्र का भय न होना, ३१ अतिवृष्टि का न होना, ३२ अनावृष्टि का न होना, ३३ दुर्भिक्ष का न होना तथा ३४ जहाँ-जहाँ भगवान विचरण करे, वहाँ-वहाँ पूर्व उत्पन्न उत्पातों का शीघ्र शान्त होना)।

दोनो सम्प्रदायो—दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में तीर्थंकर भगवान के चौतीस अतिशय स्वीकार की गई है। अतिशयों के नामों में कही कही साधारण सा अन्तर है।

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है, यह सुनकर सम्राट् भरत अन्त पुर की स्त्रियो, परिजन और पुरजनों के साथ भगवान के दर्शनों के लिये आये। भरत ने प्रथम पीठिका पर पहुँच कर प्रदक्षिणा दी और चारों ओर स्थित धर्मचक्रों की पूजा की। फिर दूसरे पीठ पर स्थित भगवान की ध्वजाओं की पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्यों से पूजा की।

फिर अष्ट प्रातिहार्य युक्त और जगत के गुरु स्वामी ऋषभदेव को देखकर उनकी प्रदक्षिणा भगवान का परिवार की और उत्कृष्ट सामग्री से उनकी पूजा की, उन्हें नमस्कार किया और भक्ति प्लावित हृदय से उनकी स्तुति की। तदनन्तर भरत भी मण्डप में प्रवेश कर अपनी योग्य सभा में जा बैठे। फिर हाथ जोड़ कर भगवान से विनय पूर्वक प्रार्थना की—हे भगवन् ! धर्म क्या है ? उसका मार्ग और फल क्या है ?

भगवान की गम्भीर दिव्य गिरा खिरी। उस समय भगवान के मुख पर कोई विकार नहीं था। उस समय भगवान के न तो तालू ओठ आदि ही हिलते थे, न उनके मुख की कान्ति ही बदलती थी। भगवान की दिव्य-ध्वनि इस प्रकार निकल रही थी, मानो पर्वत की गुफा में से प्रतिध्वनि निकलती है। वह वाणी भगवान की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी। भगवान की दिव्य गिरा में धर्म का स्वरूप, धर्म के भेद, धर्म का फल आदि विस्तार से प्रगट हुए।

जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव का परम कल्याणकारी उपदेश सुन कर महाराज भरत ने भगवान से सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रतों की परम विशुद्धि को प्राप्त किया। अर्थात् उन्होंने सम्यग्दर्शन के साथ पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रत धारण किये। अन्य अनेक जीवों ने भी यथायोग्य नियम व्रत धारण किये।

उस पुरिमताल नगर का स्वामी और भरत का छोटा भाई वृषभसेन भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुनकर भगवान के समीप दीक्षित हो गया और भगवान का प्रथम गणधर बना। उसी समय कुरु वंशीयों में श्रेष्ठ महाराज सोमप्रभ अपने पुत्र जयकुमार को राज्य देकर अपने अनुज श्रेयान्सकुमार सहित भगवान के समीप दीक्षा लेकर उनके गणधर बने। भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं के बीच मुख्य गणिनी के पद को प्राप्त हुई। बाहुबली की छोटी बहन सुन्दरी ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली। श्रुतकीर्ति नामक एक धर्मात्मा व्यक्ति ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और वह देशव्रत धारण करने वाले गृहस्थों में सबसे श्रेष्ठ हुआ। एक पतिव्रता प्रियव्रता नाम की स्त्री श्राविका के व्रत धारण कर श्राविकाओं में श्रेष्ठ कहलाई। भरत के एक भाई अनन्तवीर्य ने भी सबोध पाकर भगवान से दीक्षा प्राप्त की और उन्होंने अवसर्पिणी युग में सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया। भगवान की देखादेखी जो चार हजार राजा पहले दीक्षित हुए थे और अष्ट हो गए थे, वे 'भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है' यह सुनकर पुनः भगवान के समीप आये और एक मरीचि को छोड़ कर शेष सबने पुनः दीक्षा ले ली। और तपस्या करने लगे। अन्य अनेक लोगों ने भी भगवान से मुनि-दीक्षा और श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

(तीर्थंकरों के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धि के धारक, विपुलमति और वादी इस प्रकार ये सात सघ होते हैं)।

भगवान ऋषभदेव के सघ में कुल ऋषियों की संख्या चौरासो हजार थी, जिनमें पूर्वधर ४७५०, शिक्षक ४१५०, अवधिज्ञानी ६०००, केवली २००००, विक्रियाधारी २०६००, विपुलमति १२७५० और वादियों की कुल संख्या १२७५० थी। तथा मुनियों की संख्या ८४०८४ थी।

ऋषभदेव के तीर्थ में आर्यिकाओं की कुल संख्या साढ़े तीन लाख थी। श्रावको की संख्या तीन लाख और श्राविकाओं की कुल संख्या पांच लाख थी।

भगवान के सघ में साधुओं की कुल संख्या ८४०८४ थी। प्रत्येक तीर्थंकर के सघस्थ साधुओं के गण होने हैं। उन गणों में कुछ निश्चित संख्या में साधु रहते हैं। उन गणों में से प्रत्येक गण के ऊपर एक गणधर होना है, जो साधुओं का सम्यक् नियमन करता है, उनमें अनुशासन बनाये रखता है। भगवान ऋषभ-भगवान के गणधर देव के साधुओं के चौरामी गण थे और उन गणों के नियामक चौरामी^१ गणधर थे, जिनके नाम इस प्रकार थे—

१ वृषभसैन, २ कुम्भ, ३ दृढरथ, ४ शत्रुदमन, ५ देवशर्मा, ६ धनदेव, ७ नन्दन, ८ सोमदत्त, ९ सुरदत्त, १० दायुशर्मा, ११ सुबाहु, १२ देवाग्नि, १३ अग्निदेव, १४ अग्निभूति, १५ तेजस्वी, १६ अग्निमित्र, १७ हलधर, १८ महीधर, १९ माहेन्द्र, २० वसुदेव, २१ वसुन्धर, २२ अचल, २३ मेरु, २४ भूति, २५ सर्वसह, २६ यज्ञ, २७ सर्वगुप्त, २८ सवप्रिय, २९ सर्वदेव, ३० विजय, ३१ विजयगुप्त, ३२ विजयमित्र, ३३ विजयश्री, ३४ परारव्य, ३५ अपराजित, ३६ वसुमित्र, ३७ वसुमेन, ३८ साधुसेन, ३९ सत्यदेव, ४० सत्यवेद, ४१ सर्वगुप्त, ४२ मित्र, ४३ सत्यवान, ४४ विनीत, ४५ सवर, ४६ ऋषिगुप्त, ४७ ऋषिदत्त, ४८ यज्ञदेव, ४९ यज्ञगुप्त, ५० यज्ञमित्र, ५१ यज्ञदत्त, ५२ स्वायम्भुव, ५३ भागदत्त, ५४ भागफल्लु, ५५ गुप्त, ५६ गुप्तफल्लु, ५७ मित्रफल्लु, ५८ प्रजापति, ५९ सत्ययश, ६० वरुण, ६१ धनवाहिक, ६२ महेन्द्रदत्त, ६३ तेजोराशि, ६४ महारथ, ६५ विजयश्रुति, ६६ महावल, ६७ सुविशाल, ६८ वज्र, ६९ वैर, ७० चन्द्रचूड़, ७१ मेघेश्वर, ७२ कच्छ, ७३ महाकच्छ, ७४ सुकच्छ, ७५ अतिवल, ७६ भद्रावलि, ७७ नमि, ७८ विनमि, ७९ भद्रवल, ८०. नन्दी, ८१ महानुभाव, ८२ नन्दिमित्र, ८३ कामदेव, ८४ अनुपम।



९. भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन

भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि पुरिमताल में खिरी थी। यही भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया। भगवान यदि चाहते तो शेष सारा जीवन मौनपूर्वक व्यतीत कर सकते थे, जिस प्रकार उन्होंने अपने छद्मस्थ काल के एक हजार वर्ष मौनपूर्वक बिताये थे। किन्तु उन्हें धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करके भव्य प्रयाग में भगवान जीवों का कल्याण करना था। जब तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया था, उस समय उन्होंने द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए मार्ग प्रभावना की भी भावना की थी, अन्यथा तीर्थंकर प्रकृति का भोग पूरा नहीं होता।

भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन केवल मनुष्यों के हित और सुख के लिये ही नहीं था, बल्कि यह तो देव, पशु, पक्षी सबके हित और सुख के लिये था। भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन फागुन सुदी एकादशी को हुआ था। भगवान ने धर्म-तीर्थ का उस दिन प्रवर्तन किया था। (इसलिये यह कहना चाहिये कि इस युग में धर्म की व्यवस्थित

व्याख्या सर्व प्रथम फागुन सुदी एकादशी को हुई थी, धर्म की स्थापना का यह प्रथम दिवस था। उमलिये यह तिथि पवित्र तिथि मानी गई, यह स्थान पवित्र तीर्थक्षेत्र माना गया, वह वट वृक्ष अक्षय वट कहलाने लगा।

दिव्य ध्वनि—तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का क्या रूप होता है, इस सम्बन्ध में निम्न गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं—

अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासाय सपाइ सत्त तहा ।
अयखर अणयखरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥
एदादुं भासासुं तालु वदतोठठकंठ वाचारे ।
परिहरिय एक्ककाल भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥
पगदीए अयललिओ सभक्ति दयम्मि णवमुहत्ताणि ।
णिससरदि णिरुवमाणो दिव्वभुणो जाव जोयणमं ॥
अवमेस काल समये गणहर देविद चवरुवट्टीण ।
पण्हाण खमत्थ दिव्वभुणो अ सत्तभगी हि ॥

अर्थात् अठारह महाभाषा, गान गी छोटी भाषा तथा सर्जजीवों की ओर भी जो अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक—भाषाएँ हैं, उन सभी भाषाओं में तालु, दात, ओठ, कंठ को बिना हिलाये चलाये भगवान की वाणी भव्य जीवों के लिये प्रगट होती है। भगवान की वह दिव्य ध्वनि स्वभाव में (तीर्थंकर प्रकृति के उदय में वचन योग में, बिना इच्छा के) स्पष्ट अनुपम तीनों मन्ध्या कानों में ६ मुहूर्त निकलती है और एक योजन तक जाती है। शेष समय में गणधर, इन्द्र तथा चतुर्वर्ती के प्रश्न करने पर भी गान भगवन् दिव्यध्वनि फिरती है।

आचार्य जिनमेन ने हग्विश पुराण में दिव्य ध्वनि को विशेषताएँ बताते हुए कहा है—

तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुल विनिगंता ।
चतुर्मुखकला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया ॥५८॥३
चतुरस्त्रानुयोगानां चतुर्णामेकमातृका ।
चतुर्विध कथावृत्तिश्चतुर्गति निवारिणी ॥ ५८॥४
समन्ततः शिवस्थानाद्योजनाधिक मण्डले ।
अत्रं वात्रं व वृत्तेति तत्र तत्रास्ति तादृशी ॥५८॥८
मधुर स्निग्धगभीर दिव्योदात्त स्फुटाक्षरम् ।
वर्ततेऽनन्य वृत्तं का तत्र साध्वी सरस्वती ॥५८॥९
अनानात्मापि तद्वृत्तं नाना पात्र गुणाश्रयम् ।
सभाया दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ ॥५८॥१५
सावधान सभास्थ ध्वान्त सावरणं ध्वनि ।
जनैर्यत्कोभिनद्विष्यो विश्वात्मेत्यादि भासन ॥५८॥१६

अर्थात् गणधर के प्रश्न करने पर भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान की वह दिव्य ध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से निकलती थी, चार पुरुषार्थ रूप चार फलों को देने वाली थी, सार्थक थी, चार वर्ण और चार आश्रमों को आश्रय देने वाली थी, चारों ओर सुनाई पड़ती थी, चार अनुयोगों की माता थी, आक्षेपिणी-विक्षेपिणी-सवेगिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओं को वर्णन करने वाली थी, चार गतियों का निवारण करने वाली थी। जहाँ भगवान विराजते थे, वहाँ से चारों ओर एक योजन तक इतनी स्पष्ट सुनाई देती थी जैसे यही उत्पन्न हो रही हो। वह दिव्य ध्वनि जैसी उत्पत्ति स्थान में सुनाई पड़ती थी वैसी ही एक योजन के घेरे में सुनाई पड़ती थी। वह मधुर, स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरों से युक्त थी, अनन्य रूप थी, एक थी और अत्यन्त निष्कलक थी। जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एक रूप होता है परन्तु पृथ्वी पर पड़ते ही नाना रूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान की वह वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सभा में पात्र के

गुणों के अनुसार वह नानारूप दिखाई दे रही थी। ससार के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली भगवान की वह दिव्यध्वनि सूर्य को पराजित करने वाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभा के अन्तःकरण में स्थित आवरण सहित अज्ञानान्धकार को खण्ड-खण्ड कर रही थी।

इसी प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि का स्वरूप विस्तार पूर्वक बताया है—

‘दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत् ।

भव्यमनोगतमोहतमोन्धन् अद्भुतवदेष यथैव तमोरि० आदि पु० २३।६६

‘एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा सोन्तर नेष्ट बहूश्च कुभाषा ।

अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्व बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥ आदि पु० २३।७०

एकतयोऽपि तथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् ।

पात्र विशेष वज्ञान्च तथाऽ सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम् ॥२३।७१

एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभासम् ।

स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चै ॥२३।७२

देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतत् देवगुणस्य तथा विहति स्यात् ।

साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥२३।७३

अर्थात् भगवान के मुखकमल से वादलो की गर्जना का अनुकरण करने वाली अतिशय युक्त महा दिव्य ध्वनि निकल रही थी और वह भव्यजीवों के मन में स्थित मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकार की थी तथापि भगवान के माहात्म्य से समस्त मनुष्यों की भाषाओं और अनेक कुभाषाओं को लेकर सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वों का बोध करा रही थी। (जिस प्रकार एक ही प्रकार का जल का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस वाला हो जाता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ देव की वह दिव्य ध्वनि भी पात्रों के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती थी)। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकार की होती है तथापि उसके पास जो जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं, वह अपनी स्वच्छता से अपने आप उन उन पदार्थों के रंग को धारण कर लेती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की उत्कृष्ट दिव्य ध्वनि भी यद्यपि एक प्रकार की होती है तथापि श्रोताओं के भेद से वह अनेक रूप धारण कर लेती है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्य ध्वनि देवों के द्वारा की जाती है परन्तु उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा मानने पर वह भगवान का गुण नहीं कहलायगा, देवकृत होने से देवों का कहलायगा। इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षर रूप ही है क्योंकि अक्षरों के समूह के विना लोक में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार भगवान की वाणी और उपदेश को दिव्य ध्वनि कहा जाता है। भगवान की सभी बातें अलौकिक और दिव्य होती हैं, उनकी वाणी भी दिव्य होती है और वह ससार का कल्याण करने वाली होती है।

धर्मचक्र जैन धर्म का एक आवश्यक चिन्ह है। जैन मन्दिरों की रचना समवसरण की अनुकृति होती है। समवसरण में तीर्थंकर भगवान स्वयं विराजमान होते हैं। मन्दिर में उन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ विराजमान की जाती हैं। समवसरण की रचना देवों द्वारा की जाती है, जबकि मन्दिरों की रचना मनुष्यों द्वारा होती है। किन्तु समवसरण के आवश्यक अंगों की रचना मन्दिरों में लघु रूप में यथा-

धर्मचक्र

सम्भव की जाती है। समवसरण में धर्मचक्रों की रचना होती है, देव और मनुष्य उनकी पूजा करते हैं। समवसरण के द्वार पर, श्रीमण्डप की पीठिकाओं पर, यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर धर्म-चक्र सुशोभित रहते हैं। तीर्थंकर भगवान का जब धर्म-विहार होता है तो धर्म-चक्र आगे आगे चलता है, सर्वान्ह यक्ष धर्म-चक्र को मस्तक पर धारण कर भगवान की ओर पीठ किये विना आगे चलता है। इतना ही नहीं, तीर्थंकर देव तीर्थ की स्थापना और उद्भावना करते हैं तथा उनका सर्वप्रथम जो, केवलज्ञान के अनन्तर, प्रथम धर्मापदेश होता है और लोक कल्याणी दिव्य ध्वनि प्रगट होती है, उसे ‘धर्म-चक्र प्रवर्तन’ कहा जाता है।

मन्दिरों में भी धर्म-चक्रों का अकन रहता है। वेदी पर, भगवान के सिंहासन पर धर्म-चक्र उत्कीर्ण किये

जाते हैं। कही कही स्वतन्त्र रूप से धर्मचक्र की रचना मिलती है। पाषाण-स्तम्भों, द्वार के तोरण और चैत्यों पर धर्मचक्र अंकित मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि जैन धर्म में धर्म-चक्र को कितना महत्व दिया गया है। यद्यपि चक्र चक्र का प्रचलन प्राचीन भारत में युद्ध के एक अमोघ शस्त्र के रूप में रहा है। चक्रवर्ती और नारायण के आयुधों में को प्रमुख स्थान प्राप्त था, किन्तु आध्यात्मिक जगत में शत्रु का सहार करने वाले और हिंसा, विजय और अधिकार के प्रतीक उस चक्र को मान्यता नहीं दी गई है। किन्तु विश्व मैत्री, अहिंसा और जगत्कल्याण के प्रतीक धर्मचक्र को तीर्थंकरों की आध्यात्मिक विजय का भौतिक रूप माना गया है। धर्म-चक्र भी ससार से पाप—विजय और कपायों के विनाश के लिये तीर्थंकर के आगे-आगे चलता है। इसका आशय और प्रयोजन यह है कि तीर्थंकर का जहाँ भी धर्म-विहार होता है, वही तीर्थंकर के पहुँचने से पूर्व ही ऐसा आध्यात्मिक वातावरण निर्मित हो जाता है, जिससे वहाँ के मनुष्यों, यहाँ तक कि तिर्यचो तक के मन से विद्वेष, हिंसा और अनाचार के भाव दूर होने लगते हैं, उन्हें अन्तर में शान्ति का अनुभव होने लगता है और बाह्य प्रकृति में सब प्रकार की अनुकूलताएँ परिलक्षित होने लगती हैं। प्राणियों की भावनाओं और प्रकृति के बाह्य रूप में यह परिवर्तन तीर्थंकर के आध्यात्मिक प्रभाव का अनिवार्य परिणाम है।

समवसरण के द्वार पर अथवा गन्धकुटी के चारों ओर, तीर्थंकर के आसपास धर्म-चक्रों की उपस्थिति का आशय यह है कि तीर्थंकर के चारों ओर का वातावरण इतना धर्ममय होता है कि जो प्राणी समवसरण में प्रवेश करता है, उसके विचारों और भावनाओं पर ऐसा प्रभाव स्वतः ही पड़ने लगता है कि उसके मन में धर्म के अकुर प्रस्फुटित होने लगते हैं। उसके विचारों में से हिंसा, विद्वेष और अन्य कुत्सित भावनाएँ तिरोहित हो जाती हैं और जब वह तीर्थंकर के समीप पहुँचता है तो चहुँ ओर धर्म की बहती हुई पावन गंगा में अवगाहन करने लगता है। उसके जन्म-जन्मान्तरो के विकृत सस्कारों में एक अद्भुत क्रान्ति होने लगती है। तीर्थंकर धर्म के साकार सजीव रूप हैं। वे मूर्तिमान धर्म हैं। वे उपदेश देते हैं, तभी धर्म जागृत होता है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि जब वे मौन विराजमान हों, तब भी वे ही धार्मिक किरणें विकीर्ण होती रहती हैं, जिनमें ऐसी अद्भुत शक्ति होती है कि प्राणियों के अन्तर्करण शुद्ध, पावन हो जाते हैं। समवसरण के द्वार पर चारों दिशाओं में मानस्तम्भ होते हैं, जिन्हें देखते ही प्राणी के मन में स्तम्भ की तरह ऊँचा और कठोर अभिमान भी गलित हो जाता है। इसका भी आशय यही है कि कोई प्राणी मन में अभिमान सजो कर समवसरण में प्रवेश नहीं कर सकता, उसके मन पर वहाँ के धर्ममय वातावरण का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उसके मन में अभिमान के दाग-धब्बे स्वतः ही धुल पुछ जाते हैं, मन में कोमलता जाग उठती है और अत्यन्त विनय और भक्ति तरंगित होने लगती है।

धर्म-चक्रों के सम्बन्ध में भगवज्जिनसेनाचार्य ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आदि पुराण में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन मिलता है—

ता पीठिकामलञ्चक्रु अष्ट मगलसपदः ।

धर्म चक्राणि चोढाग्नि प्राशुभिर्यक्षमूर्धभि ॥ २१।२६२

—उस पीठिका को अष्टमगल द्रव्य रूपी सपदाएँ और यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों पर रखे हुए धर्म चक्र अलंकृत कर रहे थे।

सहस्राराणि तान्युद्गतनरदमीनि रेजिरे ।

भानुबिम्बानिवोद्यन्ति पीठिकोदय पर्वतात् ॥ २२।२६३

—जिनमें लगे हुए रत्नों की किरणें ऊपर की ओर उठ रही हैं, ऐसे हजार-हजार आरों वाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिका रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य के बिम्ब ही हों।

सहस्रारस्फुटधर्मचक्ररत्नपुरः सरः ॥ २५।२५६

—भगवान् जब विहार करते हैं, उस समय हजार आरों वाला धर्मचक्र भगवान् के आगे-आगे चलता है। इसी प्रकार आचार्य जिनमेन ने हरिवंशपुराण में इन धर्मचक्रों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है—

महा प्रभाव सम्पन्नास्तत्र शासन देवता ।

नेमुश्चाप्रचक्राद्या वृषभ धर्मचक्रिण ॥ ६।२२२

—उस समवसरण में महाप्रभाव से सम्पन्न अप्रतिचक्र आदि शासन देवता धर्मचक्र के धारक भगवान वृषभदेव को निरन्तर नमस्कार करते रहते थे ।

पीठानि त्रीणि भास्वन्ति चतुर्दिक्षु भवन्ति तु ।

चत्वारि च सहस्राणि धर्मचक्राणि पूर्व के ॥ ५७।१४०

—समवसरण में चारो दिशाओं में तीन पीठ होते हैं, उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र मुशोभित हैं ।

सहस्रार हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युति ।

धर्मचक्र जिनस्याग्रे प्रस्थानस्थानयोरभात् ॥ ३।२६

—भगवान चाहे विहार करते हो, चाहे खड़े हो, प्रत्येक दशा में उनके आगे सूर्य के समान कान्तिवाला तथा अपनी दीप्ति से हजार आरे वाले चक्रवर्ती के चक्ररत्न की हँसी उड़ाता हुआ धर्मचक्र शोभायमान रहता था ।

धर्मचक्र १२,२४ या १००० आरे वाले होते हैं ।

भगवान की धर्म-सभा और धर्मोपदेश की विज्ञप्ति और कनवैसिंग देवलोग करते हैं । वे लोगों को समवसरण में चलने की आग्रहपूर्वक प्रेरणा करते हैं । देवों की प्रेरणा पाकर अमन्य मनुष्य भगवान के प्रचारक और स्त्रियाँ समवसरण में जाकर भगवान का उपदेश सुनते हैं और आत्म-कन्याण करते हैं । इस रहस्य पर आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में प्रकाश डाला है ।

धर्मदान जिनेन्द्रस्य घोषयन्त समन्ततः ।

आह्वान चक्रिरेऽन्येषा देवा देवेन्द्र शासनात् ॥ ३।२८

—इन्द्र की आज्ञा से देव लोग चारों ओर जिनेन्द्र देव के धर्मदान की घोषणा करने हुये अन्य लोगों को बुलाते थे ।

भगवान कुछ दिन पुरिमताल नगर के शकटास्य वन में धर्म की मन्दाकिनी बहाते रहे । एक दिन सी-धर्म इन्द्र ने सहस्र नामों द्वारा भगवान की स्तुति की जो बाद में सहस्र नाम स्तोत्र के रूप में जगत में प्रसिद्ध हुआ । स्तुति करने के बाद इन्द्र ने प्रार्थना की—‘हे भगवन् ! विभिन्न क्षेत्रों के भव्य जीव रूपी चानक आपकी धर्मामृत-वर्षा के लिये उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

प्रभो ! अब मोक्षमार्ग का उपदेश देने का समय आ गया है । भव्य जीव आपको शरण हैं । आप उन्हें कल्याण का मार्ग बताने की दया कीजिये । आप ही चराचर के स्वामी हैं । धर्म का अवरोध मार्ग खोलने का यह उपयुक्त समय आया है । ससार के दुखी प्राणियों का आप उद्धार कीजिये ।’

उस समय भगवान स्वयं ही विहार करना चाहते थे । तभी इन्द्र ने विहार करने की प्रार्थना करके मानो भव्य जीवों की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व किया । तब तीनों लोगों के स्वामी और धर्म के अधिपति भगवान ऋषभ-देव ने धर्म-विहार करना आरम्भ किया । इन्द्रदेव और असंख्य जनसमूह भगवान के साथ चल रहे थे । भगवान जहाँ भी जाते, तीनों सन्ध्याओं का उनका दिव्य उपदेश होता था । वे जब विहार करते थे, शीतल सुगन्धित वायु चलने लगती थी, वृक्ष फल फूलों से भर जाते थे, एक योजन तक की भूमि को पवनकुमार देव झाड़ बुहार देते, पृथ्वी दर्पण के समान निर्मल हो जाती । मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करके पृथ्वी को धूल रहित बना देते थे । जहाँ भगवान के चरण पड़ते, वही २२५ स्वर्ण कमलों की रचना हो जाती । किन्तु भगवान तो भूमि से चार अंगुल ऊपर ही चलते थे, कमलों पर उनके चरण नहीं पड़ते थे । भगवान के आगे हजार आरों वाला धर्म चक्र, अष्ट मंगल द्रव्य और धर्म-ध्वज चलते थे । देव दुन्दुभि-नाद और पुष्प वर्षा कर रहे थे । भेरी-ताडन हो रहा था । देवागनाएँ आकाश में भक्ति नृत्य करती चल रही थी । किन्नर गा रहे थे, गन्धर्व और विद्याधर वीणा बजाते चल रहे थे । भगवान के अचिंत्य प्रभाव के कारण चारों ओर सुमिश्र हो गया था, समस्त प्रकार का आनन्द,

कल्याण और आरोग्य व्याप्त था। इस प्रकार भगवान ने समस्त देशों में आनन्द और कल्याण की वर्षा करते हुए धर्म-विहार किया। इस विहार की बदौलत असम्यक् प्राणियों ने अपना कल्याण किया।

भगवान ने जिन देशों में विहार किया, उनके नाम इस प्रकार हैं—काशी, अवन्ति, कुरु, कोशल, सुह्य, पुण्ड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, प्रान्ध्र, कनिग, मद्र, पचान, मालव, दशार्ण, विदर्भ आदि।



१० भगवान का अष्टापद पर निर्वाण

भगवान ने सम्पूर्ण देश में एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्षों तक धर्म-विहार किया। जब उनकी आयु के चौदह दिन शेष रह गये, तब वे श्रीशिवर और मिद्धशिवर कैलाश में निर्वाण के बीच में कैलाश पर्वत पर पहुँचे और पौष शुक्ल पूर्णमासी के दिन योगों का निरोध करने के लिए ध्यानावस्थ में गये।

उसी दिन सम्राट् भरत ने स्वप्न में देखा कि महामेरु पर्वत लम्बा होते होते सिद्ध क्षेत्र तक जा पहुँचा है। युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न देखा कि एक महोपधि वृक्ष लोगों के रोगों का नाश करके स्वर्ग को जा रहा है। गृहपति ने स्वप्न देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगों की कामनायें पूरी करने के बाद स्वर्ग को जा रहा है। प्रधानमन्त्री को स्वप्न हुआ कि एक रत्नहीन लोगों की नाना प्रकार के रत्न देकर आकाश की ओर जाने के लिए तैयार है। जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य ने देखा कि चन्द्रमा तीनों लोकों को प्रकाशित करके तारों सहित जा रहा है। सम्राज्ञी मुभद्रा ने स्वप्न में देखा कि यमस्वनी और मुनन्दा के पास बैठकर इन्द्राणी शोकाकुल हो रही है। वाराणसी नरेश चित्रागद ने स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवी को प्रकाशित करके आकाश की ओर उड़ा जा रहा है। इस प्रकार और भी अनेक लोगों ने इसी प्रकार के नाना स्वप्न देखे।

प्रातःकाल होने पर सबने राजपुरोहित तथा निमित्त शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों से अपने-अपने स्वप्न बता कर उनका फल पूछा। उन निमित्त ज्ञानियों ने विचार कर उत्तर दिया—भगवान ऋषभदेव सम्पूर्ण शेष कर्मों को नष्ट करके अनेक मुनियों के साथ मुक्त होनेवाले हैं। पुरोहित स्वप्नों का फल बता ही रहे थे, तभी आनन्द नामक एक व्यक्ति राज्य-सभा में आया। उसने महाराज भरत को यथोचित नमस्कार करके भगवान का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया और कहा कि भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि का सकोच कर लिया है और सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर मौन पूर्वक बैठी हैं।

यह सुनते ही सम्राट् भरत सब लोगों के साथ अविलम्ब कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे। उन्होंने जाकर भगवान के दर्शन किये, तीन प्रदक्षिणा दी, उनकी स्तुति की और महामह नामक पूजा की। इस प्रकार चक्रवर्ती चौदह दिन तक भगवान की सेवा करते रहे।

उस दिन माघ कृष्ण चतुर्दशी के सूर्योदय का शुभ मुहूर्त था। अभिजित नक्षत्र था। भगवान इस पुण्य-वेला में पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्येकासन से विराजमान हो गये। उनके साथ के एक हजार मुनियों ने भी आत्म-विजय की अन्तिम तैयारी की। भगवान ने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्ल ध्यान के द्वारा मन्त्र, वृत्तन, काय इन तीनों योगों का निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थान में ठहरकर अ-इ-उ-ऋ-लृ इन ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतने काल में व्युत्पत्तिक्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्ल ध्यान के द्वारा शेष अधातियाँ कर्मों का नाश कर दिया। वे सिद्धत्व पर्याय को प्राप्त हो गये। आत्मा की अनन्त विभूति की प्रगट करने वाले आत्मा के आठ गुण उनमें प्रगट हो गये—सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अयुक्त्यु

अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अव्यावाध। ये गुण आठ कर्मों के विनाश द्वारा उत्पन्न हुये थे। वे इस शरीर को छोड़ कर तनु वात वलय में जा विराजे। वे लोक के अग्रभाग पर स्थित हो गये। वे निर्मल, निरावरण, निष्कलक शुद्ध आत्म रूप में स्थित हो गये। वे जन्म-मरण से रहित हो गये, कृतकृत्य हो गये। मित्र परमात्मा हो गये। उनके साथ १००० मुनि भी मुक्त हुये।

भगवान का निर्वाण हो गया, यह जान कर सब देव और इन्द्र वहाँ आये। भगवान का शरीर पारे के समान बिखर गया था। तीर्थङ्कर के शरीर के परमाणु अन्तिम समय विजली के समान क्षणभर में स्कन्ध पर्याय को छोड़ देते हैं। इन्द्र ने सब देवों के साथ भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

भगवान का निर्वाण फिर भगवान के कृत्रिम शरीर को पालकी में विराजमान किया। फिर इन्द्र ने तीन अग्नि कल्याणक कुण्ड स्थापित किये। एक अग्नि कुण्ड भगवान के लिये, दूसरा अग्नि कुण्ड गणधरो के लिये दायी और तथा तीसरा अग्नि कुण्ड गणधरो के अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियों के लिये बायी और स्थापित किया। फिर उन कुण्डों में अग्नि स्थापित की, गन्ध-पुष्प आदि से पूजा करके चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों और घी, दूध आदि द्वारा उम अग्नि को प्रज्वलित किया और उस शरीर को उसमें रख दिया। अग्नि ने थोड़े ही समय में शरीर का वर्तमान आकार नष्ट कर दिया। उन्होंने शेष मुनियों के शरीर का भी इसी प्रकार सस्कार किया।

फिर इन्द्रो ने पंच कल्याणको को प्राप्त होने वाले भगवान वृषभदेव के शरीर की भस्म उठाकर 'हम लोग भी ऐसे ही हो' यह सोचकर बड़ी भक्ति से अपने ललाट पर, दोनों भुजाओं में, गले में और ललाट पर लगाई। फिर सबने मिलकर आनन्द नाटक किया और अपने-अपने स्थानों को चले गये।

भगवान का निर्वाण होने पर भेद विज्ञानी भरत चक्रवर्ती को मोह उत्पन्न हुआ और वे शोक सन्तप्त हो गये। उस समय वृषभसेन गणधर ने उन्हें ससार का स्वरूप बताते हुये समझाया, जिससे चक्रवर्ती का मोह भग्न हो गया और गणधर देव के चरणों में नमस्कार करके वे अयोध्या नगरी को वापिस लौट गये।

सिद्धक्षेत्र कैलाश (अष्टापद)—भगवान ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर्वत से हुआ। अष्टापद को ही अनेक स्थानों पर कैलाश पर्वत भी कहा गया है। इसलिए कैलाश और अष्टापद दोनों स्थान भिन्न-भिन्न न होकर एक ही हैं।

कैलाश पर्वत सिद्ध क्षेत्र है। यहाँ से अनेक मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है। भगवान ऋषभदेव के अतिरिक्त भरत आदि भाइयों ने, भगवान अजितनाथ के पितामह त्रिदशजय, व्याल, महाव्याल, अच्छेद्य, अभेद्य, नागकुमार, हरिवाहन, भगीरथ आदि असंख्य मुनियों ने कैलाश पर्वत पर आकर तपस्या की और कर्मों को नष्ट करके यही से मुक्त हुए।

भगवान ऋषभदेव की स्मृति में भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये और उनमें रत्नों की प्रतिमाये विराजमान करायी। ये प्रतिमायें और जिनालय सहस्रो वर्षों तक वहाँ विद्यमान रहे। सगर चक्रवर्ती के आदेश से उनके साठ हजार पुत्रों ने उन मन्दिरों की रक्षा के लिये उस पर्वत के चारों ओर परिखा खोद कर गंगा को वहाँ बहाया। वाली मुनि यही तपस्या कर रहे थे। रावण उन्हें देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और जिस पर्वत पर खड़े वे तपस्या कर रहे थे, उस पर्वत को ही उलट देना चाहा। तब वाली मुनि ने सोचा—चक्रवर्ती भरत ने यहाँ जो जिन मन्दिर बनवाये थे, वे इस पर्वत के विचलित होने से कहीं नष्ट न हो जायें, यह विचार कर उस पर्वत को उन्होंने अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया, जिससे रावण उस पर्वत के नीचे दबकर रोने लगा। इन घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि भरत द्वारा निर्मित ये मन्दिर और मूर्तियाँ रावण के समय तक तो अवश्य ही थीं।

कैलाश की आकृति—कैलाश की आकृति ऐसे लिंगाकार की है जो षोडश दल कमल के मध्य खड़ा हो। इन सोलह दल वाले शिखरों में सामने के दो शिखर झुक कर लम्बे हो गये हैं। इसी भाग से कैलाश का जल गौरी-कुण्ड में गिरता है। कैलाश इन पर्वतों में सबसे ऊँचा है। उसका रंग कसौटी के ठोस पत्थर जैसा है। किन्तु वर्ष

में ढुके रहने के कारण वह रजनवर्ण दिखायी पड़ता है। हमारे शृंग कच्चे लाल मटमले पन्थर के हैं। मानसरोवर की ओर से उसकी चढ़ाई डेढ़ मील की है जो बहुत कठिन है। कैलाश के शिखर के चारों कोनों में ऐसी मन्दिरा-कृतियाँ स्वन बनी हुई हैं जैसे बहुत से मन्दिरों के शिखरों पर चारों ओर बनी होती है।

निव्वत की ओर से यह पर्वत ढलान वाला है। उधर निव्वतियों के बहुत मन्दिर बने हुये हैं। निव्वत के लोगो में कैलाश के प्रति बड़ी श्रद्धा है। अनेक निव्वती तो उसकी वस्तीय मील की परिग्रमा दण्डवत् प्रतिपात द्वारा लगाने हैं। लिङ्ग-पूजा उग शब्द का प्रचलन निव्वत में ही प्रारम्भ हुआ। निव्वती भाषा में लिङ्ग का अर्थ क्षेत्र या तीर्थ है। अतः लिङ्ग-पूजा का अर्थ निव्वती भाषा में तीर्थ-पूजा है।

कैलाश और अष्टापद—प्राकृत निर्वाण भक्ति में 'अट्टावर्याम्म नमहो' अर्थात् ऋषभदेव की निर्वाण भूमि अष्टापद बनायी है। किन्तु संस्कृत निर्वाण भक्ति में अष्टापद के स्थान में कैलाश को ऋषभदेव की निर्वाण भूमि माना है—कैलाश जैन शिखरों पर निर्वाणो ज्यो, मैत्रेयिभावमुपपद्य वृषो महात्मा।' संस्कृत निर्वाण काण्ड में एक श्लोक में निर्वाण क्षेत्र का उल्लेख करने हुए कहा है—'गच्छाचले न हिमवत्पि मुप्रतिष्ठे।' इसमें सम्पूर्ण हिमालय को ही निर्वाण क्षेत्र माना है।

एक ही स्थान में निम्ने आचार्य ने तीन नाम दिये हैं। उसमें लगना है, ये तीनों नाम समानार्थक और पर्यायवाची हैं। उही-उही हिमवान के स्थान पर धवलगिरि शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यदि यह मान्यता सही है कि ये सब नाम पर्यायवाची हैं तो कैलाश या अष्टापद कहने पर हिमालय में भागीरथी, अलकनन्दा और गंगा नदियों ब्रह्मनाथ, वेदाग्रनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री में लेकर नर-नागायण, द्रोणगिरि, गौरीशंकर, नन्दा, त्रिशूली, और मुख्य कैलाश यह सम्पूर्ण प्रदेश ही निर्वाण क्षेत्र हो जाता है।

हिमालय में निम्ने तीर्थों को स्थानपूर्वक देगने में हम मान्यता का समर्थन होता है। (भगवान् ऋषभदेव के पिता नाभिराय ने ब्रह्मनाथ मन्दिर के पीछे बाने पर्वत पर तपस्या की थी। वहाँ उनके चरण विद्यमान हैं) भगीरथ ने कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त नामक मुनि से दीक्षा ली थी और उन्होंने गंगा-तट पर तपस्या की थी। इन्द्र ने क्षीरसागर के जल में भगीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था। उस चरणोदक का प्रवाह गंगा में जाकर मिल गया। तभी ने गंगा नदी लोक में तीर्थ मानी जाने लगी। उन महामुनि भगीरथ ने गंगा तट पर जिन शिला पर गड़े होकर तपस्या की थी, वह शिला भगीरथ-शिला कहलाने लगी। वह अब भी विद्यमान है। भगीरथ की तपस्या का यह वर्णन जैन शास्त्रों में मिलता है।

ब्रह्मनाथ मन्दिर की मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की है। इसमें हम तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि चक्रवर्ती भरत ने जिन ७२ जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया था, वह केवल कैलाश में नहीं, अपितु सारे हिमालय में विभिन्न स्थानों पर कराया था।



✓ It may be mentioned that Linga is a Tibetan word for Land. The northern most district of Bengal is called Darji-Ling, which means Thunder's land.

S K Roy, Pre-historic India and Ancient Egypt, p 28

११. नाभिराय और मरुदेवी

जैन पुराणों में नाभिराय का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार वे अन्तिम मनु थे। वे तेरहवें मनु प्रसेन-जित के पुत्र थे। वे भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्य खण्ड में उत्पन्न हुये थे।

उनका विवाह अत्यन्त सुन्दरी मरुदेवी से हुआ था। उस समय कल्पवृक्ष रूप प्रासाद उस जैन पुराणों में नाभि-क्षेत्र में नष्ट हो गये थे किन्तु केवल नाभिराय का ही कल्पवृक्ष प्रासाद बाकी बचा था जो ८१ राय और मरुदेवी खण्ड का था। इसका नाम सर्वतोभद्र प्रासाद था। इन्द्र ने उनके लिये अयोध्यानगरी की रचना की। उसमें उनके लिये और त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान के उपयुक्त प्रासाद की रचना की और आदर सहित उनको उस प्रासाद में पहुँचा दिया। उनके यहाँ आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ।

जब ऋषभदेव राज्यभार का दायित्व सभालने योग्य हुए तो महाराज नाभिराज ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। यथा—

‘नृपा मूर्धाभिषिक्ता ये नाभिराजपुरस्सरा।

राजवद् राजसिंहोऽयमभ्यसिच्यत तै समम् ॥ —आदि पुराण १६।२२४

अर्थात् सब राजाओं में श्रेष्ठ यह ऋषभदेव वास्तव में राजपद के योग्य है, ऐसा मानकर नाभिराज आदि राजाओं ने उनका एक साथ अभिषेक किया।

इसके पश्चात् जब तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने दीक्षा ली, उस समय भी महाराज नाभिराज और महारानी मरुदेवी अन्य लोगों के साथ तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिये पालकी के पीछे चल रहे थे।

मरुदेव्या सम नाभिराजो राजशतंवृत ।

अनूत्तस्थौ तदा दृष्टु विभोर्निष्क्रमणोत्सवम् ॥

—आदिपुराण १७।१७८

अर्थात् उस समय महाराजा नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओं से परिवृत होकर प्रभु ऋषभदेव के तप कल्याणक का उत्सव देखने के लिये उनके पीछे जा रहे थे।

उस समय का दृश्य बड़ा विचित्र था। एक ही समय में विविध रसों का परिपाक हो रहा था।

ऊर्ध्व नवरसा जाता नृत्यदप्सरसा स्फुटाः ।

नाभेयेन विमुक्तानामथ शोक रसोऽभवत् ॥

—हरिवंश पुराण ६।६१

—ऊपर तो अप्सराओं के नृत्य से नौ रस प्रगट हो रहे थे और नीचे पृथिवी पर तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा छोड़े हुए जन शोक रस से अभिभूत हो रहे थे।

आचार्य रविषेण के अनुसार ऋषभदेव ने वन में पहुँचकर ‘माता-पिता’ और बन्धुजनो से आज्ञा लेकर ‘णमो सिद्धाण’ कहकर पञ्च मुष्टि लोच करते हुए श्रमण दिगम्बर दीक्षा लेली। यथा—

‘आपृच्छण तत कृत्वा पित्रोर्वन्धु जनस्य च ।

‘नम. सिद्धेभ्य’ इत्युक्त्वा श्रामण्य प्रत्यपद्यत ॥ —पद्मपुराण ३।२८२

(उपर्युक्त अवतरणों से यह तो स्पष्ट ही है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के दीक्षा कल्याणक के समय उनके माता-पिता विद्यमान थे। किन्तु इसके बाद वे दोनों कितने दिन जीवित रहे अथवा उन्होंने अपना शेष जीवन किस प्रकार और कहा व्यतीत किया, इसके सम्बन्ध में जैन साहित्य में अभी तक कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। किन्तु इस विषय में हिन्दू पुराण ‘श्रीमद्भागवत’ में महर्षि शुकदेव ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके लिये हम महर्षि शुकदेव के चिर ऋणी हैं। महर्षि लिखते हैं—

श्री मद्भागवत में
नाभिराज और
मरुदेवी

विदितानुरागमापीर प्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मज समयसेतुरक्षायामभिषिच्य सह मरुदेव्या विशालाया प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन ... महिमानवाप ।

- श्रीमद्भागवत ५।४।५

(टीका) आपीर प्रकृति पौराणप्रकृतीश्चाभिव्याप्य विदितोऽनुरागो यस्मिन् । कथंभूतो नाभि । जनपदः जनाः पौरादयः पदं प्रमाणं यस्य स । आत्मज धर्ममर्यादा-रक्षणार्थमभिषिच्य । विशालाया वदरिकाश्रमे । प्रसन्न. परानुद्देजक निपुणं च तीव्रं तेन उपासीनं सेवमानं कालेन तन्महिमानं जीवन्मुक्षितमवाप ।

—श्रीधर स्वामीकृत सस्कृत टीका काशी

अर्थात् पुरवासियो श्रीर प्रकृति को अभिव्याप्त करने वाला जिनका प्रेम प्रसिद्ध है, श्रीर नगरवासियो को जो प्रमाणभूत थे ऐसे नाभिराज धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये अपने पुत्र वृषभदेव का राज्याभिषेक करके वदरिकाश्रम में प्रसन्न मन से घोर तप करते हुए यथासमय जीवन्मुक्त हो गये ।

उक्त कथन से नाभिराज श्रीर मरुदेवी के अन्तिम जीवन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है । इसके अनुसार नाभिराज ऋषभदेव के राज्याभिषेक के बाद मरुदेवी के साथ वदरिकाश्रम में गये और वहाँ घोर तप करके जीवन्मुक्त हो गये ।

टीका में विशाला का अर्थ वदरिकाश्रम किया है । उस स्थान पर वदरी नामक झाड़ियों की बहुलता है । इस स्थान पर उस समय मुनिजनों का आश्रम रहा होगा । जिसके कारण इस स्थान को वदरिकाश्रम कहा गया है । निश्चय ही श्री नाभिराज की घोर तपस्या के कारण मनुष्यों का ध्यान इस स्थान की ओर आकृष्ट हुआ और जिस स्थान से उन्होंने जीवन्मुक्ति पाई, वह स्थान परम पावन तीर्थधाम बन गया और अपने पितामह की स्मृति में सम्राट् भरत ने वहाँ एक भव्य मन्दिर बनवाया और उसमें तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान कराई । परम्परागत रूप में वह मन्दिर और मूर्ति अब तक विद्यमान है । निश्चय ही यह मन्दिर और मूर्ति वह नहीं है जो भरत ने बनवाई थी । मन्दिर का जीर्णोद्धार और नवनिर्माण होता रहा । मूर्ति भी बदल गई, किन्तु फिर भी मूर्ति ध्यानलीन पद्मासन से बैठे तीर्थंकर ऋषभदेव की ही रही ।

इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि यहाँ भगवान् ऋषभदेव का एकाधिक बार विहार हुआ, समवसरण लगा, उसके आसपास तपस्या की और मुक्ति प्राप्त की । इसलिए स्पष्टतः यह जैन तीर्थ रहा है ।)



१२. ऋषभदेव का लोकव्यापी प्रभाव

ऋषभदेव की मान्यता सारे लोकमानस में छा गई थी । देश की समस्त जनता उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी । उनके हर कार्यकलाप में उसे नवीनता और अपूर्वता प्रतीत होती थी । वह उनकी प्रत्येक गति-

विधि को बड़े विस्मय और भक्ति से देखती थी । जो कार्य उसे अद्भुत प्रतीत होता था, ऋषभदेव से उसकी स्मृति सुरक्षित रखने के लिये उस स्थान और तिथि को मान्यता देकर उस कार्य का सम्बन्धित तीर्थ स्मरण करती थी । यही कारण था कि उनकी गतिविधि से सम्बन्धित प्रत्येक स्थान तीर्थ बन गया और प्रत्येक तिथि पर्व बन गई । वह परम्परा किसी न किसी रूप में आज तक सुरक्षित है ।

भगवान् का जन्म अयोध्या में हुआ था । भगवान् के रहने के लिये इन्द्र ने उसकी रचना सर्वप्रथम की थी । कर्मयुग के पूर्वकाल में निर्मित यह सर्वप्रथम नगरी थी । इसी में भगवान् ने जन्म लिया, इसी में बचपन,

किशोरावस्था और जीवन विताया। इसी में रहकर उन्होंने सृष्टि में कर्म का प्रचलन किया, इसी में रहकर ससार की सम्पूर्ण व्यवस्थायें प्रचलित की। भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या पावन तीर्थ बन गई। लोग यहाँ आते और श्रद्धा से उसकी रज उठाकर माथे से लगाते। संभव है, उस रज में भगवान को चरण रज मिलो हो। लोक के लिये अयोध्या का कण-कण पवित्र और वन्दनीय था। जगत्पति भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या तीर्थभूमि बन गई। लोहा पारस का स्पर्श पाकर सोना बन जाता है। महत्व पारस का है, लोहे का नहीं। ऋषभदेव के कारण अयोध्या तीर्थ बन गई। और जन्म-तिथि महान् पर्व हो गई। महत्व ऋषभदेव का है। लोग अयोध्या जाते हैं तो भक्ति की शान पर चढ़कर उनकी कल्पना तेज हो उठती है और अयोध्या के गली कूचों और खण्डहरो में भगवान के जन्म-काल की नाना लीलाओं के दर्शन होने लगते हैं। उनकी कल्पित छवि मानस चक्षुओं के आगे आकार ग्रहण करके नाचने लगती है और श्रद्धा से मस्तक उनके चरणों में स्वतः झुक जाता है। ससार के प्रपञ्च और व्यामोह में फसा व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है, उन प्रपञ्चों को भूल जाता है और भगवान के चरणों में स्वयं को समर्पित पाता है।

प्रभु ऋषभदेव ने एक दिन अयोध्या का त्याग कर दिया, अयोध्या के मोह का त्याग कर दिया। वे ससार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और दीक्षा लेली। छह माह के उपवास का नियम ले लिया। उसके बाद वे आहार के लिये निकले। उनके प्रति लोगो में अपार श्रद्धा-भक्ति तो थी किन्तु आहार दान की विधि का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं था। छह माह तक वे घूमते रहे। रत्न, कन्यायें, हाथी, घोड़े, वस्त्र, अलंकार तो ले-लेकर लोग आये, किन्तु आहार कोई नहीं दे सका। यह सौभाग्य मिला राजकुमार श्रेयान्स को। हस्तिनापुर के पुण्य जागे, श्रेयान्स के पुण्य जागे। भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे। भगवान को देखते ही कुमार श्रेयान्स को पहले जन्म की वह घटना स्मरण हो आई, जब उसने मुनि को आहार-दान दिया था। आदर से वह उठा, भक्ति से उसने भगवान को यथाविधि पङ्गाहा और श्रद्धा से उसने आहार दिया। उस समय इक्षु-रस के कलश भरे हुए रखे थे वहाँ। आत्मविभोर होकर उसने भगवान को आहार में वही इक्षु-रस दिया। भगवान ने अनासक्त भाव से वही लिया। तीर्थंकर भगवान का यह प्रथम आहार था। कर्मभूमि में एक मुनि को दिया गया यह प्रथम आहार था। कुमार श्रेयान्स प्रथम दाता था, भगवान इस दान के प्रथम पात्र थे। हस्तिनापुर भगवान को दिये आहार-दान का प्रथम स्थान था। देवताओं ने इस प्रथम दान की सराहना की, राजकुमार श्रेयान्स का जय-जयकार किया, भगवान की स्तुति की। किन्तु जनता ने इस घटना की स्मृति को अमिट बना दिया—हस्तिनापुर को महान् तीर्थ मानकर और आहार-दान की उस तिथि को—आषाढ कृष्णा तृतीया को पर्व मानकर। तृतीया तो वर्ष में चौबीस आती है, किन्तु यह तृतीया तो असाधारण थी, अपूर्व थी, अदृष्टपूर्व थी, अश्रुतपूर्व थी। इस तृतीया को तो भगवान का निमित्त पाकर श्रेयान्स कुमार ने, सोमप्रभ ने, लक्ष्मीमती ने और समस्त दशकों ने अक्षय पुण्य-सचय किया था। इसलिये इस तिथि को पर्व मानकर ही जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इस तृतीया को अक्षय तृतीया मानकर उसको विशेष गौरव प्रदान किया। किस बुद्धिसागर महामानव ने यह नाम दिया इस तिथि को आज से लाखों करोड़ों वर्ष पहले। उस अज्ञात मनीषी को हमारे प्रणाम हैं। 'अक्षय' इस एक शब्द में ही उसने पर्व का सारा इतिहास लिख दिया।

भगवान तो निरीह थे, वीतराग थे। आहार लिया और चल दिये। मौन धारण किये एक हजार वर्ष तक ध्यान और विहार करते रहे। तब वे एक दिन पुरिमताल नगर के बाहर उद्यान में पहुँचे। एक वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर पद्मासन लगाकर ध्यानस्थ हो गये। उनकी सारी इन्द्रियाँ सिमट कर मन में समा गईं। मन आत्मा में तिरोहित हो गया। उन्हें विमल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। वे समस्त लोकालोक के ज्ञाता-दृष्टा बन गये। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। भगवान ऋषभदेव के जीवन का यह ज्वलन्त अवसर था। सही मायनों में वे अभी भगवान बने थे। इससे भी बड़ी और महत्वपूर्ण एक घटना और घटी यहाँ पर। देवों ने इसी स्थान पर समवसरण की रचना की। भगवान का उसमें प्रथम धर्मोपदेश हुआ। एक हजार वर्ष से स्वेच्छा से लिया मौन प्रथम बार भग हुआ। भगवान ने यहाँ पर ही धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान को जिस स्थान पर केवलज्ञान हुआ और प्रथम दिव्य-ध्वनि खिरी, उस पुरिमताल को लोग

‘प्रयाग’ कहने लगे और उसे तीर्थभूमि मान लिया। जिस वट वृक्ष के नीचे बैठकर भगवान ने तपस्या की, केवल ज्ञान हुआ और धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया, जनता ने उस वट वृक्ष को प्रणाम किया और उसके सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये उसे अक्षय वट कहने लगे। महान् प्रभु के अल्पकालिक सम्पर्क ने उस वट वृक्ष को भी महान् बना दिया। और फागुन सुदी एकादशी का दिन पर्व बन गया, जिस दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ था।

केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवान ने सम्पूर्ण देश में विहार किया। गृहस्थ दशा में उन्होंने लोक को बदला था, लोक-व्यवस्था को बदला था। अब वे लोकमानस को बदलने के लिये उपदेश देने लगे। गृहस्थ थे तो जनता का आहार-विहार बदला था, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये, तब जनता का आचार-विचार बदल दिया, सोचने की दृष्टि बदल दी। पहले शरीर के लिये सब कुछ किया, अब आत्मा के लिये सब कुछ करने लगे। पहले कर्म-व्यवस्था बनाई, अब धर्म-व्यवस्था बनाने लगे। कौन-सा देश था, जहाँ वे नहीं गये। कौन सा क्षेत्र था, जहाँ उनको दिव्य गिरा में लोगो ने अवगाहन नहीं किया। धर्म की उस पावन मन्दाकिनी में आलोडन करके जन-जन के मन में शुद्धि प्रस्फुटित हो उठी। हिमालय के उत्तु ग शिखर उनके गम्भीर नाद से गूँज उठे। मंदानो में उनके उपदेशों की शीतल वयार बहने लगी। वे आर्य देशों में गये, अनार्य देशों में गये। उनके समवसरण में गरीब आते थे, अमीर आते थे। रक आते थे, सम्राट् आते थे। गाय भी आती थी और घेर भी आते थे, चूहे भी आते थे, विल्ली भी आती थी। उनका समवसरण समाजवाद का सच्चा केन्द्र था, विभिन्न मतों और विरोधी जीवों के सह अस्तित्व का अद्भुत स्थान था। विभिन्नता में एकता और विरोधों में समन्वय का एक अलौकिक मंच था। अशान्त मन वहाँ जाकर शान्ति पाता था, क्रूरता की आग पर सीहार्द का शीतल जल बरस कर उसे शान्त कर देता था। भगवान की आत्मा आनन्द और शान्ति की निधान थी। उनके चारों ओर का वातावरण उसी आनन्द और शान्ति से व्याप्त हो जाता था। उनके सान्निध्य में पहुँचकर अनुभव होने लगता था कि मानो जीवन में अशान्ति और दुःख के सारे दाग धुल पुछ गये हैं। वे मुख से नहीं बोलते थे, उनके रोम-रोम से शान्ति और प्रेम बोलता था। उनका व्यक्तित्व अलौकिक था, उनका उपदेश अलौकिक था और उनका प्रभाव अलौकिक था।

भगवान विहार और उपदेश करते हुए एक दिन कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे। वे कैलाश के उत्तु ग शिखर पर खड़े होकर ध्यानलीन हो गये। उनके निकट एक हजार मुनि भी ध्यान लगाकर खड़े हो गये। चक्रवर्ती भरत और असंख्य जनमेदिनी हाथ जोड़े हुए भगवान के दिव्य रूप का दर्शन कर रही थी। कैलाश के निर्भरणों का कल-कल करता हुआ शीतल जल बहकर गीरीकुण्ड में गिर रहा था। सारा पर्वत हिम के कारण रजत के समान श्वेत धवल हो रहा था। भगवान के मुख की दीप्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यह दीप्ति बढ़ते-बढ़ते सूर्य-प्रभा जैसी हो गई, किन्तु शीतल और स्निग्ध। कुछ काल के बाद करोड़ों सूर्य मानो एक स्थान पर आ गये। फिर वह तेज-पुंज जल-थल को, आकाश-पाताल को, लोक-अलोक को प्रकाशित करता हुआ अदृश्य हो गया। भगवान का निर्वाण हो गया।

कैलाश धन्य हो गया, जो भी वहाँ थे वे धन्य हो गये, सारा लोक धन्य हो गया। देव और देवेन्द्रो ने मिलकर आनन्दोत्सव किया। चक्रवर्ती भरत ने वहाँ स्वर्ण मन्दिर और स्तूप निमित्त कराये। लोक ने कैलाश को महान् तीर्थ घोषित किया और उस तिथि को-माघ कृष्ण चतुर्दशी को महान् पर्व स्वीकार किया।

भगवान का पार्थिव रूप नहीं रहा, किन्तु उनकी स्मृति सजोये ये तीर्थ और पर्व लाखों करोड़ों वर्ष के अन्तराल को पारकर आज तक जन-जन के मन में भगवान को जीवित रखे हुए हैं। भगवान का भौतिक शरीर नहीं रहा, किन्तु उनका यश शरीर तब तक रहेगा, जब तक ये चांद सितारे आकाश में चमकते रहेंगे।

श्रीमद्भागवत पुराण भक्ति का अमर ग्रन्थ माना जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय में जितने परम वैष्णव और महाभागवत हुए हैं, उनको विष्णु-भक्ति की प्रेरणा इसी ग्रन्थ से मिली थी। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य,

निम्बाकाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि की भक्ति-साधना का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही था। इस ग्रन्थ में भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार चौबीस अवतारों के नाम इस प्रकार हैं—नाभि सरोवर में से एक कमल उत्पन्न हुआ।

श्रीमद्भागवत में
आध्यात्मिक

उस कमल से प्रजापतियों के अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। इन्हीं से सारे अवतार प्रगट हुए। कुल अवतारों की संख्या चौबीस थी—१ सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चार ब्राह्मण २ शूकरावतार ३ नारद ४ नर-नारायण ५ कपिल ६ दत्तात्रेय ७ यज्ञावतार ८ ऋषभदेव ९ पृथु १० मत्स्यावतार ११ कच्छपावतार १२ धन्वन्तरि १३ मोहिनी १४ नरसिंह १५ वामन १६ परशुराम १७ व्यास १८ राम १९ बलराम २० श्रीकृष्ण २१ बुद्ध २२ कल्कि

श्रीमद्भागवत में चौबीस अवतार स्वीकार किये हैं, किन्तु नाम उपर्युक्त वार्डस अवतारों के ही दिये हैं। कुछ विद्वान् हंस और ह्यग्रीव नामक दो अवतार और मानते हैं और इस प्रकार अवतारों की चौबीस संख्या की पूर्ति करते हैं। कुछ अन्य विद्वान् चौबीस की संख्या पूर्ति इस प्रकार करते हैं—रामकृष्ण के अतिरिक्त बाँस अवतार तो उपर्युक्त है ही। शेष चार अवतार श्रीकृष्ण के ही अंश हैं। स्वयं श्रीकृष्ण तो पूर्ण पुरुष हैं। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं। अतः श्रीकृष्ण को अवतारों में नहीं गिनते। उनके चार अंश इस प्रकार हैं—१ केश का अवतार २ सुतपा तथा पृथिवी पर कृपा करने वाला अवतार ३ सकर्षण बलराम ४ परब्रह्म।

इस महापुराण में भगवान् ऋषभदेव का वर्णन कई स्थलों पर किया है। यहाँ उन स्थलों से लेकर ऋषभदेव-चरित्र ज्यों का त्यों (हिन्दी भाषा में) दिया जा रहा है। इससे ऋषभदेव के चरित्र पर तो प्रकाश पड़ता ही है, उनकी महानता के भी दर्शन होते हैं। इससे कुछ नये तथ्यों का उद्घाटन भी होता है—

“राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवाँ अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने परमहंसों का वह मार्ग दिखाया जो सब आश्रमों के लिये बन्दीय है।”

—श्रीमद्भागवत १।३।१३

“राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रहकर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शों के रूप में उन्होंने जड़ों की भाँति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस पद अर्थात् अवधूतचर्या कहते हैं।

—श्रीमद्भागवत २।७।१०

स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत थे। उन्हें परमार्थ तत्त्व का बोध हो गया था। वे निरन्तर ब्रह्माभ्यास में लीन रहते थे। पिता ने उन्हें राज्य-भार सौंपना चाहा, किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। तब ब्रह्माजी द्वारा समझाने पर उन्होंने राज्य स्वीकार किया। राज्य शासन करते हुए भी देहादि उपाधि की निवृत्ति हो जाने से उनकी आत्मा की सम्पूर्ण जीवों के आत्मभूत प्रत्यगात्मा में एकीभाव से स्थिति हो गई।

उन्होंने अपने रथ पर चढ़कर पृथ्वी की सात परिक्रमाये दी। उस समय उनके रथ के पहियों से जो लीकें बनीं वे ही सात समुद्र हुए। उनसे पृथ्वी में सात द्वीप बन गये। उनके नाम क्रमशः जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इनमें से पहले-पहले की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीप का परिमाण दूना है और ये समुद्र के बाहरी भाग में पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए हैं। सात समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, मदिरा, घी, दूध, मट्ठे और मीठे जल से भरे हुए हैं।

प्रियव्रत के सात पुत्र थे—अग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, धृतपृष्ठ, मेघातिथि और वीतिहोत्र। इन पुत्रों को एक-एक द्वीप का राज्य दे दिया। अग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा बने। उनके नौ पुत्र हुए—नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलामृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। अग्नीध्र ने जम्बूद्वीप के विभाग करके उन्हीं के समान नाम वाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया।

पिता के परलोक गमन करने पर नौ भाइयों ने मेरु की नौ कन्याओं से विवाह कर लिया। नाभि ने मेरुदेवी से विवाह किया। बहुत समय तक नाभि के कोई सन्तान नहीं हुई। तब दम्पति ने श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से भगवान् की आराधना की। तब भगवान् ने प्रसन्न होकर वरदान दिया—‘मैं स्वयं ही अपनी अशकला से अग्नीध्र-नन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूँगा क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखाई नहीं देता।’

महारानी मेरुदेवी के सुनते हुए उसके पति से इस प्रकार कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्रीभगवान् महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर सन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रगट हुए।

—पचम स्कन्ध तृतीय अध्याय

‘राजन् ! नाभिनन्दन के अग्न जन्म से ही भगवान् विष्णु के वज्र-अकुश आदि चिह्नों से युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव दिनों दिन बढ़ता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृति वर्ग प्रजा, ब्राह्मण और देवताओं की यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वी का शासन करें। उनके सुन्दर और सुडील शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ‘ऋषभ’ (श्रेष्ठ) रखवा।

एक बार भगवान् इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य में वर्षा नहीं की। तब योगेश्वर भगवान् ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हसते हुए अपनी योग माया के प्रभाव से अपने वर्ष अजनाभखण्ड में खूब जल बरसाया। महाराज नाभि अपनी इच्छानुकूल श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो गये। और अपनी ही इच्छा से मनुष्य शरीर धारण करने वाले पुराण पुरुष श्रीहरि का सप्रेम लालन करते हुए, उन्हीं के लीला विलास से मुग्ध होकर ‘वत्स ! तात !’ ऐसा गद्गद् वाणी से कहते हुए बड़ा सुख मानने लगे।

जब उन्होंने देखा कि मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्र की जनता ऋषभदेव से बहुत प्रेम करती है तो उन्होंने उन्हें धर्म मर्यादा की रक्षा के लिये राज्याभिषेक करके ब्राह्मणों की देखरेख में छोड़ दिया। आप अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित बदरिकाश्रम को चले गये। वहाँ अहिंसा वृत्ति से, जिससे किसी को उद्वेग न हो, ऐसी कौशलपूर्ण तपस्या और समाधियों के द्वारा भगवान् वासुदेव के नर-नारायण रूप की आराधना करते हुए समय आने पर उन्हीं के स्वरूप में लीन हो गये।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभखण्ड को कर्म भूमि मानकर लोकसंग्रह के लिये कुछ काल गुरुकुल में वास किया। गुरुदेव को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करने के लिये उनकी आज्ञा ली। फिर लोगों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये देवराज इन्द्र की स्त्री हुई उनकी कन्या जयन्ती से विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त दोनों प्रकार के शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए उसके गर्भ से अपने ही समान गुण वाले सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्हीं के नाम से लोग इस अजनाभखण्ड को भारतवर्ष कहने लगे। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ, और कीकट ये नौ राजकुमार शेष नव्वे भाइयों से बड़े एवं श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले बड़े भगवद्भक्त थे। भगवान् की महिमा से महिमान्वित और परम शान्ति से पूर्ण इनका पवित्र चरित्र हम नारद-वासुदेव सवाद के प्रसंग से आगे (एकादश स्कन्ध में) कहेंगे। इनसे छोटे जयन्ती के इक्यासी पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करने वाले, अति विनीत, महान् वेदज्ञ, निरन्तर यज्ञ करने वाले थे। वे पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करने से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे।

भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी अज्ञानियों के समान कार्य करते हुए उन्होंने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगों को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग सुख और मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया। महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं। यद्यपि वे सभी धर्मों के सार रूप वेद के गूढ़ रहस्य को जानते थे। तो भी ब्राह्मणों की बतलाई हुई विधि से साम-दानादि नीति के अनुसार ही जनता का पालन करते थे। उन्होंने शास्त्र और ब्राह्मणों के उपदेशानुसार भिन्न-

भिन्न देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदि से सुसम्पन्न सभी प्रकार के सी-सौ यज्ञ किये । भगवान ऋषभदेव के शासन काल में इस देश का कोई भी पुरुष अपने लिये किसी से भी अपने प्रभु के प्रति दिन-दिन बढ़ने वाले अनुराग के सिवा और कभी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता था । यही नहीं, आकाश कुसुमादि अविद्यमान वस्तु की भांति कोई किसी की वस्तु की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था ।

—श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय

ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में भरत सबसे बड़े थे । वे भगवान के परम भक्त और भगवद्भक्तों के परायण थे । ऋषभदेव जी ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हें राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहसोचित धर्मों की शिक्षा देने के लिए बिलकुल विरक्त हो गए । केवल शरीर मात्र का परिग्रह रक्खा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया । अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये, उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे । उन्मत्त का सा वेप था । इस स्थिति में वे आहवनीय (अग्निहोत्र की) अग्नियों को अपने में ही लीन करके सन्यासी हो गये । और ब्रह्मावर्त देश से बाहर निकल गये । वे सर्वथा मौन हो गये थे । कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे । जड़, अन्धे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलों की सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे । कभी नगरों और ग्रामों में चले जाते, कभी खानों, किसानों की वस्तियों, वगीचों, पहाड़ों, गावों, सेना की छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की वस्तियों और यात्रियों के टिकने के स्थानों में रहते । कभी पहाड़ों, जंगलों और आश्रमों में विचरते । वे किसी भी रास्ते से निकलते तो जिस प्रकार वन में विचरने वाले हाथी को भब्रियाँ सताती हैं, उसी प्रकार मूर्ख और दुष्ट लोग उनके पीछे हो जाते और उन्हें तग करते । कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब करते, कोई थूक देते, कोई ढेला मारते, कोई विष्ठा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोड़ते और कोई खोटी-खरी सुना कर उनका तिरस्कार करते । किन्तु वे इन सब बातों पर ध्यान नहीं देते । इसका कारण यह था कि भ्रम से सत्य कहे जाने वाले इस मिथ्या शरीर में उनकी अहंता-ममता तनिक भी नहीं थी । वे कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण प्रपञ्च के साक्षी होकर अपने परमात्म स्वरूप में ही स्थित थे । इसलिए अखण्ड चित्त वृत्ति से अकेले ही पृथ्वी पर विचरते रहते थे । यद्यपि उनके हाथ, पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाहे, कंधे, गले, और मुख आदि अंगों की वनावट बड़ी सुकुमार थी । उनका स्वभाव से ही सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुस्कान से और भी मनोहर जान पड़ता था । नेत्र नवीन कमल-दल के समान बड़े ही सुहावने, विशाल एवं कुछ लाली लिये हुए थे । उनकी पुतलियाँ शीतल एवं सन्तापहारिणी थी । उन नेत्रों के कारण वे बड़े मनोहर जान पड़ते थे । कपोल, कान और नासिका छोटे-बड़े न होकर समान एवं सुन्दर थे तथा उनके अस्फुट हास्ययुक्त मनोहर मुखारविन्द की शोभा को देखकर पुर-नारियों के चित्त में कामदेव का संचार हो जाता था तथापि उनके मुख के आगे जो भूरे रंग की लम्बी-लम्बी घुघराली लटे लटकी रहती थी, उनके महान् भार और अवधूतों के समान धूलि धूसरित देह के कारण वे ग्रहग्रस्त मनुष्य के समान जान पड़ते थे ।

जब भगवान ऋषभदेव ने देखा कि यह जनता योग साधन में विघ्न रूप है और इससे बचने का उपाय वीभत्स वृत्ति से रहना ही है, तब उन्होंने अजगर वृत्ति धारण कर ली । वे लेटे ही लेटे खाने-पीने, चबाने और मल मूत्र त्याग करने लगे । वे अपने त्याग हुए मल में लोट-लोट कर शरीर को इससे सान लेते । किन्तु उनके मल में दुर्गन्ध नहीं थी, बड़ी सुगन्ध थी और वायु उस सुगन्ध को लेकर उनके चारों ओर दस योजन तक सारे देश को सुगन्धित कर देती थी । इसी प्रकार गौ, मृग और काकादि की वृत्तियों को स्वीकार करके उन्हीं के समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्र का त्याग करने लगते थे ।

परीक्षित ! परमहंसों को त्याग के आदर्श की शिक्षा देने के लिये इस प्रकार भोक्षपति भगवान ऋषभदेव ने कई तरह की योगचर्याओं का आचरण किया । वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे । उनकी दृष्टि में निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा में अपने आत्मस्वरूप भगवान वासुदेव से किसी प्रकार का भेद नहीं था । इसलिये उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे । उनके पास आकाश गमन, मनोजवित्त्व (मन की गति के समान शरीर का भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना) अन्तर्धान, परकाय प्रवेश, दूर की बातें सुन लेना

और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियाँ अपने आपही सेवा करने को आई, परन्तु उन्होंने उनका मन से आदर या ग्रहण नहीं किया।

— श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध पंचम अध्याय

‘भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालों के भी भूषणस्वरूप थे, तो भी वे जड़ पुरुषों की भाँति अवधूतो के से विविध वेप, भापा और आचरण से अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपाये रहते थे। अन्त में उन्होंने योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्तःकरण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप से देखते हुए वासनाओं की अनुवृत्ति से छूटकर लिङ्गदेह के अभिमान में भी मुक्त होकर उपराम हो गये। इस प्रकार लिङ्गदेह के अभिमान से मुक्त भगवान् ऋषभदेव जी का शरीर योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही इस पृथ्वी तल पर विचरता रहा। वह दैवज कोक, बेंक और दक्षिण आदि कुटुक कर्णाटक के देशों में गया और मुह में पत्थर का टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटुकाचल के वन में घूमने लगा। इसी समय भूभावात से भूकम्पों हुए वामों के घर्षण से प्रबल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वन को अपनी लाल लाल लपटों में लेकर ऋषभदेव जी के सहित भस्म कर दिया।

. भगवान् का यह अवतार रजोगुण में भरे हुए लोगों को मोक्ष मार्ग की शिक्षा देने के लिये ही हुआ था। इसके गुणों का वर्णन करते हुए लोग इन वाक्यों को कहा करते हैं—अहो! सात समुद्रों वाली पृथ्वी के समस्त द्वीप और वर्षों में यह भारतवर्ष बड़ी ही पुण्यभूमि है क्योंकि वहाँ के लोग श्रोत्रिण के मङ्गलमय अवतार-चरित्रों का गान करते हैं। अहो! महाराज प्रियव्रत का वंश बड़ा ही उज्ज्वल एवं सुयुगपूर्ण है जिसमें पुराण पुरुष श्री आदि-नारायण ने ऋषभावतार लेकर मोक्ष को प्राप्त कराने वाले पारमहंस्य धर्म का आचरण किया। इन जन्मरहित भगवान् ऋषभदेव के मार्ग पर कोई दूसरा योगी मन से भी कैसे चल सकता है। क्योंकि योगी लोग जिन योग-सिद्धियों के लिये लालायित होकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें उन्होंने अपने आप प्राप्त होने पर भी असत् समझकर त्याग दिया था।

— श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध षष्ठ अध्याय

‘हमारे पिता ऋषभ के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के साधनों का उपदेश दिया है।

— श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध चतुर्थ अध्याय

भगवान् ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के रूप में आश्चर्यजनक रूप से समानता दिखाई पड़ती है। उससे यह सन्देह होता है कि भगवान् ऋषभदेव और उन देवताओं का व्यक्तित्व विभिन्न नहीं, अपितु एक ही है अर्थात् ऋषभदेव और वे देवता एक हैं, भिन्न नहीं हैं, केवल नाम-रूप का ही भगवान् ऋषभदेव अन्तर है और वह नाम रूप का अन्तर भी आलंकारिक वर्णन के कारण है। यदि उन और प्रमुख वैदिक आलंकारिक वर्णनों के मूल तथ्य को हम हृदयगम कर सकें तो उससे कुछ नये रहस्य उद्घाटित किये जा सकते हैं। तब भारत के प्राचीन धर्मों और मान्यताओं की विभिन्नता में भी एकता के कुछ बीजों और सूत्रों का अनुसन्धान किया जा सकता है। हमारा ऐसी विश्वास है कि यदि विश्व के धर्मों की मौलिक एकता का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया जाय तो भगवान् ऋषभदेव का रूप उसमें अत्यन्त सहायक हो सकता है।

अनेकता में एकता और विभिन्नताओं में समन्वय ये दो सूत्र ही मतभेदों को दूर कर सकते हैं और नाना-त्मक अन्तर्द्वन्द्वों की कटुता को कम कर सकते हैं। ऋषभदेव जैन और वैदिक इन दोनों भारतीय धर्मों के आराध्य रहे हैं। जैनो ने उन्हें प्रथम तीर्थंकर माना है और वैदिक पुराणों में उन्हें भगवान् के अवतारों में आठवाँ अवतार स्वीकार किया है। इस प्रकार ऋषभदेव प्राचीन भारत में, प्रागैतिहासिक काल में सम्पूर्ण जनता के समान रूप से पूज्य रहे हैं। आज भी जैन और वैदिकों के बीच सौहार्द और समन्वय का कोई सामान्य आधार बन सकता है तो वह ऋषभदेव ही हो सकते हैं।

यहाँ हम ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के पुराणवर्णित रूप का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत

करना चाहेंगे। उससे प्रगट होगा कि दोनों चरित्रों में कितनी अद्भुत समानता है।

अधिकांश इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं, कि शिवजी वैदिक आर्यों के देवता^१ नहीं थे। जब वैदिक आर्य भारत में आये थे, उस समय शिव जी के उपासकों की संख्या नगण्य नहीं थी। सिन्धु उपत्यका और मोह-
ऋषभदेव नजोदडो-हडप्पा शाखा की खुदाई में शिवजी की मूर्तियों की उपलब्धि से भी इस बात
और शिवजी की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में शिवजी की मान्यता बहुत प्रचलित थी। उन्हें शिव, महादेव, रुद्र आदि विविध नामों से पूजा जाता था।

ऋषभदेव किस प्रकार शिव बन गये, इसका उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। ईशान संहिता में उल्लेख है कि माघ कृष्ण चतुर्दशी की महानिशा में आदिदेव करोड़ों सूर्य की प्रभावशाली शिवलिंग के रूप में प्रगट हुये।

माघ कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।

शिवलिंगतयोद्भूत कोटि सूर्य सम प्रभ ॥

शिवपुराण में तो स्पष्ट उल्लेख है कि मुक्त शंकर का ऋषभान्तार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा। और उनका अवतार नौवा होगा।

इत्थं प्रभावः ऋषभोऽवतार शंकरस्य मे।

सता गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु न ॥ शिवपुराण ४।४७

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋषभदेव और शिवजी एक ही व्यक्ति थे। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि शिवजी का जो रूप विकसित हुआ, उसका मूल क्या था। इसके लिये दोनों के समान रूप पर तुलनात्मक विचार करना सचिकर होगा—

दिगम्बर रूप—भगवान ऋषभदेव ने राजपाट छोड़ कर मुनिदीक्षा लेली। अर्थात् वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गये। श्रीमद्भागवत के अनुसार उनके शरीर मात्र परिग्रह वच रहा था। वे मलिन शरीर सहित ऐसे दिखाई देते थे, मानो उन्हें भूत लगा हो।

शिवजी को भी नग्न माना है और उनके मलिन शरीर को प्रदर्शित करने के लिये देह पर भभूत दिखाई जाती है। वेदों में जिस शिवदेव का उल्लेख मिलता है, उसका रहस्य भी दिगम्बरत्व में ही निहित है।

जटायें—ऋषभदेव ने जब छह माह तक कायोत्सर्गसिन्धु से निश्चल खड़े होकर तपस्या की, उस काल में उनके केश बढ़कर जटायें^२ के रूप में हो गये थे। ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ जटाजूटयुक्त मिलती हैं। शिवजी भी जटाजूटधारी हैं।

नन्दी—जैन तीर्थंकरों के चौबीस प्रतीक चिह्न माने गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं पर वे चिह्न अंकित रहते हैं। उन चिह्नों से ही तीर्थंकर-प्रतिमा की पहचान होती है, ऋषभदेव का प्रतीक चिह्न वृषभ (बैल) है। शिवजी का वाहन भी वृषभ है।

कैलाश—ऋषभदेव ने कैलाश पर जाकर तपस्या की और अन्त में वही से उन्होंने निर्वाण (शिव पद) प्राप्त किया। शिवजी का धाम भी कैलाशपर्वत माना गया है।

शिवरात्रि—ऋषभदेव ने माघ कृष्ण चतुर्दशी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। यही तिथि शिवजी के लिंग-उदय की तिथि मानी जाती है। कहीं कहीं शिवरात्रि माघ कृष्ण चतुर्दशी को न मान कर फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को मानी जाती है। यह अन्तर उत्तर और दक्षिण भारत के पञ्चाङ्गों के अन्तर के कारण है। 'काल माघवीर्य नागर खण्ड' में इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार है—

✓ In fact, Shiv and the worship of Linga and other features of popular Hinduism were well established in India long-long before the Aryans came

—K. M. Pannikar, a survey of Indian history p 4

१ पद्मपुराण २।२८७-२८८। आदिपुराण १८।७५। हरिवंशपुराण ६।२०४

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्ण चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ॥

अर्थात् दक्षिण वालो के माघ मास के उत्तर पक्ष की तथा उत्तर वालो के फाल्गुण मास के प्रथम पक्ष की कृष्णा चतुर्दशी शिवरात्रि कही गई है ।

उत्तर भारत वाले मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से मानते हैं और दक्षिण वाले शुक्ल पक्ष से मानते हैं । वस्तुतः दक्षिण भारत वालो का जो माघ कृष्णा चतुर्दशी है, वही उत्तर भारत वालो की फाल्गुण कृष्णा चतुर्दशी है । ईशान संहिता में शिवलिंग के उदय की तिथि स्पष्ट शब्दों में माघ कृष्णा चतुर्दशी बताई है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ।

गंगावतरण—जैन मान्यता है कि गगानदी हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से निकल कर पहले पूर्व की ओर और फिर दक्षिण की ओर बहती है । वहा गगाकूट नामक एक चबूतरे पर जटाजूट मुकुट से सुशोभित ऋषभदेव की प्रतिमा है । उस पर गगा की धारा पड़ती है । मानो गगा उनका अभिषेक ही कर रही हो । इसी प्रकार शिवजी के बारे में मान्यता है कि गगा जब आकाश से अवतीर्ण हुई तो शिवजी की जटाओं में आकर गिरी और वही बहुत समय तक विलीन रही ।

त्रिशूल और अन्धकासुर—जैन शास्त्रों में ऋषभदेव के केवल ज्ञान-प्राप्ति के सिलसिले में अनेक स्थानों पर आलंकारिक वर्णन मिलता है कि उन्होंने त्रिशूल (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र) रूप त्रिशूल से मोहनीय या मोहासुर का नाश किया अथवा शुद्ध लेश्या के त्रिशूल से मोह रूप अन्धकासुर का वध किया ।

इसी प्रकार शिवजी त्रिशूलधारी और अन्धकासुर के सहारक माने गये हैं । इसीलिए शिव-मूर्तियों के साथ त्रिशूल और नरकपाल बनाये जाते हैं ।

लिंग पूजा - तीर्थंकरों के गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवल ज्ञान और निर्वाण कल्याणक जहा होते हैं, वे स्थान क्षेत्र मंगल और कल्याणक भूमियाँ मानी जाती हैं । ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया । कैलाश का आकार लिंग जैसा है । चक्रवर्ती भरत ने कैलाश के आकार के घण्टे बनवाये थे और उन पर ऋषभदेव की प्रतिमा उत्कीर्ण कराई थी । (तिब्बती भाषा में लिंग-पूजा का अर्थ क्षेत्र-पूजा होता है । कैलाश तिब्बती क्षेत्र में है । तिब्बती कैलाश क्षेत्र को पवित्र मानते थे । जिसे वे लिंग-पूजा कहते थे । शिव-भक्त भी लिंग-पूजा करते हैं । प्राचीन काल में लिंग-पूजा से कैलाश पर्वत की पूजा का ही आशय था । किन्तु जब शैव धर्म तान्त्रिकों के हाथों में पड़ गया, तब लिंग क्षेत्र के अर्थ में न रहकर पुरुष की जननेन्द्रिय के अर्थ में लिया जाने लगा । इतना ही नहीं, उन्होंने पर्वत पर तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त हुई आत्म-सिद्धि को पार्वती नाम से एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व दे दिया और पुरुष लिंग के साथ स्त्री की भग-पूजा की कल्पना कर डाली ।)

✓ १. आदिजिण्णपडिमाओ ताओ जड मउड सेहरिल्लाओ ।

पडिमोवरिम्म गगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ॥

तिलोय पण्णत्ति ४।२३०

सिरिगिह सीसट्ठिय बुजकाणिय सिहासण जडामडल ।

जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गगा ॥

त्रिलोकसार ५६०

✓ २. तिरयण-तिसूल धारिय मोहघासुर कवघ विदहरा ।

सिद्ध सयलप्पस्वा अरिहता ह्वण्णय कयता ।

—धवतल सिद्धान्त ग्रन्थ, वीर सेनाचार्य

शुद्ध लेश्या त्रिशूलेन मोहनीय रिपुर्हृतः ।

—हरिवंशपुराण

इस प्रकार ऋषभदेव और शिवजी के रूप में जो अद्भुत समानता दिखायी पड़ती है, वह संयोग मात्र अथवा आकास्मिक नहीं है। बल्कि लगता है, दोनों व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् नहीं हैं, एक ही हैं। इन्दौर आदि कई म्यूजियमों में योगलीन शिव मूर्तियों और ऋषभदेव की ध्यानलीन मूर्तियों को देखने पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव जी के चरित्र का जो कवित्व की भाषा में आलंकारिक वर्णन किया गया है, यदि उस परत को हटा कर चरित्र की तह में झाँके तो वे ऋषभदेव दिखाई देने लगेंगे। ऋषभदेव ने तपस्या करते हुए कामदेव पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, शिवजी ने कामदेव का सहार किया था। क्या अन्तर है दोनों में? शिवजी के जिस तृतीय नेत्र और उनके सहारक रूप की कल्पना की गई है, वही ऋषभदेव का आत्मज्ञान रूप तृतीय नेत्र है, जिसके द्वारा उन्होंने राग-द्वेष-मोह का सहार किया।

(अतः यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिवजी नाम में ही भिन्न हैं, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। इसीलिए शिवपुराण ७।२।१६ में ऋषभदेव को शिव के अष्टाईम योगावतारों में नौवाँ अवतार स्वीकार किया गया है)

विष्णुपुराण हिन्दू पुराणों में विशिष्ट स्थान रखता है। इसके रचयिता श्री पराशरजी हैं। इसके प्रथम अंश अध्याय चार से छह में ब्रह्माजी की उत्पत्ति और लोक-रचना का विशद वर्णन किया गया ऋषभदेव और ब्रह्मा है। इसमें बताया है कि ब्रह्माजी नाभिज हैं। उनकी पुत्री सरस्वती हैं। वे चतुर्मुख हैं अर्थात् उनके चार मुख हैं। उन्होंने इस सृष्टि की रचना की, सृष्टि की रचना में भगवान् तो केवल निमित्त मात्र ही हैं। क्योंकि उसकी प्रधान कारण तो सृज्य पदार्थों की शक्तियाँ ही हैं। वस्तुओं की रचना में निमित्त मात्र को छोड़कर और किसी बात की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि वस्तु तो अपनी ही शक्ति से वस्तुता को प्राप्त हो जाती है।

ब्रह्माजी ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की। उन्होंने कृत्रिम दुर्ग, पुर तथा खर्वट आदि स्थापित किये। कृषि आदि जीविका के साधनों के निश्चित हो जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने प्रजा के स्थान और गुणों के अनुसार मर्यादा, वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा अपने धर्म का भली प्रकार पालन करने वाले समस्त वर्णों के लोक आदि की स्थापना की।

(जैन पुराणों के अनुसार ऋषभदेव भी नाभिज अर्थात् नाभिराज में उत्पन्न हुये थे। उनकी पुत्री का नाम ब्राह्मी था। ब्राह्मी और सरस्वती पर्यायवाची शब्द हैं। ऋषभदेव जब समवसरण में विराजमान होते थे तो उनके चारों दिशाओं में मुख दिखाई देते थे। उन्होंने कृषि आदि पट्कर्मों का उपदेश दिया, ग्राम-नगर, खेत आदि की स्थापना की, वर्ण-व्यवस्था स्थापित की)

(एक उल्लेख योग्य बात यह है कि आदि ब्रह्मा के अनेकों नाम पुराणों और कोशों में मिलते हैं—जैसे हिरण्यगर्भ, प्रजापति, चतुरानन, स्वयम्भू, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, लोकेश, अज आदि। जैन पुराणों में ऋषभदेव के लिये भी इन नामों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। ब्रह्मा के नामों में परमेष्ठी शब्द हमारा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित करता है। जैन परम्परा का तो यह पारिभाषिक शब्द है, जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनियों के लिये प्रयुक्त होता है और जो इस युग की आदि में सर्व प्रथम ऋषभदेव के लिये ही प्रयुक्त हुआ था।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार ब्रह्मा और ऋषभदेव के नामों और कामों की समानता देख कर यह विश्वास करना पड़ता है कि ब्रह्मा और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

वैदिक साहित्य के वातरशना तथा केशो और भगवान् ऋषभदेव—श्रीमद्भागवत में ऋषभदेवतार के उद्देश्य के सम्बन्ध में जो स्पष्ट विवरण दिया है—जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है, वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। उसमें बताया है—

वर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नामे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्निर्वायितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥ ५।३।२०

(अर्थात् हे विष्णुदत्त परीक्षित ! यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्री भगवान् महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके निवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ में वातरशना (दिगम्बर) श्रमण ऋषियों और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिए शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रगट हुए।)

इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव की मान्यता और पूज्यता के सम्बन्ध में जैनो और हिन्दुओं में कोई मतभेद नहीं है। जैसे वे जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् विष्णु भगवान् के अवतार हैं। दूसरी बात यह है कि प्राचीनता की दृष्टि से ऋषभदेव का अवतार राम और कृष्ण से भी प्राचीन माना गया है। और इस अवतार का उद्देश्य वातरशना श्रमण मुनियों के धर्म को प्रगट करना बताया गया है। भागवत पुराण में यह भी बताया गया है कि

‘अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ ५।६।१२ ॥

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुण से भरे हुये लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था।

जिन वातरशना और ऊर्ध्वरेता श्रमण मुनियों के धर्म को प्रगट करने और कैवल्य की शिक्षा देने के लिये ऋषभदेव का अवतार हुआ वे वातरशना मुनि यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थे। उनका उल्लेख भारत के प्राचीनतम माने जाने वाले ग्रन्थ वेदों में भी मिलता है। एक सूक्त में वातरशना मुनियों की कठोर साधना का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

‘मुनयो वातरशनाः पिशगा वसते मला ।

वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्वासो अद्विषत ॥

उन्मदिता मौनेयेन वाता आतास्थिमा वयम् ।

शरीरेदस्माक यूय मर्तासो अभि पश्यथ ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।२-३

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मूल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी नप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़ करके हम मौन वृत्ति से उन्मत्तवत् वायु भाव को प्राप्त होते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रगट करते हैं।

ऋग्वेद ने इन ऋचाओं के साथ केशी की स्तुति की गई है—

‘केश्याग्निं केशी विषं केशी विभर्त रोदसी ।

केशी विश्व स्वर्ह शे केशीद ज्योतिरुच्यते ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।१

अर्थात् केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन करता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति कहलाता है।

जहाँ वातरशना मुनियों की स्तुति की गई है, वही केशी की यह स्तुति की गई है। ऐसा लगता है कि केशी इन वातरशना मुनियों के प्रधान थे। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषि एक ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यह भी असदिग्ध तथ्य है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनियों में श्रेष्ठ केशी और भागवत के सब ओर लटकते हुये कुटिल, जटिल, कपिश केशी वाले ऋषभदेव भी एक ही व्यक्ति हैं। ऋग्वेद में उन्हें केशी कहा है और उससे उनकी जटाओं की ओर संकेत किया है। भागवत में ऋषभदेव के कुटिल, जटिल, कपिश केशों का भार बताया है। और जैन पुराणों में उन्हें लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित बताया है।

ऋग्वेद के केशी ऋषभदेव ही थे, इसका समर्थन भी ऋग्वेद की निम्न ऋचा से होता है—

‘ककदवे वृषभो युषत आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी ।

दुधयुवतस्य द्रवत्त. सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥ ऋग्वेद १०।१०२।६

अर्थात् मुद्गल ऋषि के सारथी (नेता) केशी वृषभ, जो शत्रु का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उन की वाणी निकली अर्थात् उन्होंने उपदेश किया । जिसके फलस्वरूप मुद्गल ऋषि की जो गाये (इन्द्रियो) जुते हुए दुधर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थी, वे निश्चल होकर मीद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लोट पड़ी ।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक साहित्य में जिन वातरचना मुनियों का वर्णन मिलता है, वे दिगम्बर जैन श्रमण मुनि हैं और जहाँ केशी का वर्णन आया है, वहाँ केशी अन्य कोई नहीं, ऋषभदेव ही हैं ।

भगवान ऋषभदेव का व्यक्तित्व अत्यन्त सशक्त और तेजस्वी था । उनकी मान्यता देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके देश-देशान्तरो में फैल गई । वे किसी एक सम्प्रदाय, जाति और धर्म के नेता नहीं थे ।

वे तो कर्म और धर्म दोनों के ही आद्य प्रस्तोता थे । सांस्कृतिक चेतना और बौद्धिक जागरण

जैनेतर ग्रन्थों में के आद्य प्रेरक वे ही थे । मानव की आद्य सभ्यता को एक दिशा देने का महान् कार्य उन्होंने

ऋषभदेव किया था । सारा मानव समाज उनके अनुग्रहों और उपकारों के लिये चिर ऋणी था । वर्ग,

जाति और वर्ण के भेदभाव के बिना सारी मानव जाति उन्हें अपना उपास्य मानती थी ।

उनके विविध कार्यकलापो और रूपों को लेकर विभिन्न देशों और कालों में उनके विविध नाम प्रचलित हो गये ।

(शिव महापुराण में उन्हें अट्ठाईस योगावतारों में एक अवतार माना । श्रीमद्भागवत में उन्हें विष्णु का आठवा

अवतार स्वीकार किया । वेदों में ऋषभदेव की स्तुति विविध रूपों में विभिन्न नामों में की गई है । अनेक ऋचाओं में

उनकी स्तुति अग्नि, मित्र, यम आदि नामों से की गई है । ताण्ड्य,^१ तैत्तिरीय^२ और शतपथ^३ ब्राह्मण में अग्नि के

नाम से उन्हें आद्य (आदि पुरुष) मिथुनकर्त्ता (विवाह प्रथा के प्रचलन कर्त्ता, ब्रह्मा, पृथ्वीपति, धाता, ब्रह्मा, सर्वविद्

(सर्वज्ञ) कहा गया है । वेदों में उन्हें जातवेदस (जन्म से ज्ञान सम्पन्न) रत्नधाता, विश्ववेदस (विश्व को जानने

वाला) मोक्षनेता और ऋत्विज (धर्म सस्थापक) बताया गया है । वेदों में अनेक स्थानों पर वृषभदेव की स्तुति की

गई है । यहाँ उनमें से कुछ मन्त्र दिये जा रहे हैं, जिनका देवता ऋषभ है—

त्व रथं प्रभसे योधमृष्वमावो युध्यन्त वृषभ दशद्युम् ।

त्व तुग्रं वेतसवे स चाहन्त्व तुजि गृणन्तमिन्द्र तू तो ॥

—ऋग्वेद ४।६।२६।४

इसका आशय यह है कि युद्ध करते हुए ऋषभ को इन्द्र ने युद्ध सामग्री और रथ प्रदान किया ।

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः

—अथर्ववेद १६ वा काण्ड, प्रजापति सूक्त ।

इन्द्र द्वारा राज्य में वर्षा नहीं होने दी । तब वृषभदेव ने खूब जल बरसाया ।

इसी ऋचा का आशय लेकर महाकवि सूरदास ने सूरसागर में लिखा है—

इन्द्र देखि ईरषा मन लायो । करिके क्रोध न जल बरसायो ।

ऋषभदेव तब ही यह जानी । कह्यो इन्द्र यह कहा मन आनी ॥

निज बल जोग नीर बरसायो । प्रजा लोग अति ही सुख पायो ।

ऋषभदेव की स्तुति परक अनेक मन्त्र भी वेदों में मिलते हैं—

Imp.

१ ताण्ड्य ब्राह्मण २५।६।३

२ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।२।३, ३।१।४।१, ३।३।१०।२

३ शतपथ ब्राह्मण १०।४।१।५, ६।२।१।८

अहो मुंच वृषभ याज्ञिमाना विराजन्त प्रथममध्वराणाम् ।
अपा न पातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियदत्तभोज ॥

(सम्पूर्ण पापो से मुक्त तथा अहिंसक व्रतियों के प्रथम राजा, आदित्य स्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आवाहन करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियो के साथ वल प्रदान करें)
अनर्वाण वृषभ मन्द्र जिह्व वृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्के ।

(मिष्ट भाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ की पूजा साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।)
ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६० मन्त्र १०

एव वभ्रो वृषभ चेकितान यथा हेव न हृणीषे न हति ॥

ऋग्वेद २।३३।१५

हे शुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ ! हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हो।

इसी प्रकार प्रायः सभी हिन्दू पुराणों में ऋषभदेव का चरित्र वर्णन किया गया है और उन्हें भगवान का अवतार माना है।

ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ में उन्हें राजाओं में श्रेष्ठ और सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है—

‘ऋषभ पाथिव श्रेष्ठ सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ।’

महाभारत (शान्ति पर्व १२।६४।२०) में उन्हें क्षात्रधर्म का आद्य प्रवर्तक बताया है—

‘क्षात्रो धर्मो ह्यादि देवात् प्रवृत्त पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्मा ।’

श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर परीक्षित ने कहा है—

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।

यदधर्मकृतं स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥

श्रीमद्भागवत १।१७।२२

अर्थात् हे धर्मज्ञ ऋषभदेव ! आप धर्म का उपदेश करते हैं। आप निश्चय से वृषभ रूप से स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही स्थान आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं।

इसी शास्त्र में ऋषभदेव एक स्थान पर अपने नाम की सार्थकता बताते हुए कहते हैं—

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्य सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।

पृष्ठे वृत्तो मे यदधर्मश्चाराद् अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥ ५।५।१६

(अर्थात् मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारण जनो के लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे की ओर धकेल दिया है। इसी से सत्यपुरुष मुझे ‘ऋषभ’ कहते हैं)।

वौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव की चर्चा बड़े आदरसूचक शब्दों में की गई है—

‘प्रजापते सुतो नाभि तस्यापि सुतमुच्यते । नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै,
सिद्धकर्म-दृढव्रत ॥ तस्यापि मणिचरो यक्ष सिद्धो हेमवते गिरौ ।

ऋषभस्य भरत पुत्रः ।

आर्यमञ्जु श्री मूल श्लोक ३६०-६२

(अर्थात् प्रजापति के पुत्र नाभि हुए। उनके पुत्र ऋषभ थे जो कृतकृत्य और दृढव्रती थे। मणिचर उनका यक्ष था। हिमवान् पर्वत पर वे सिद्ध हुए उनके पुत्र का नाम भरत था)।

इसी प्रकार ‘धम्मपद’ ४२२ में ऋषभदेव को ‘उसभ पवर वीर’ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।

वास्तविकता यह है कि ऋषभदेव का व्यक्तित्व सार्वभौम रहा है। उनकी इस सार्वभौम ख्याति और मान्यता के कारण (भारत के सभी प्राचीन धर्मों ने उन्हें समान रूप से अपना उपास्य माना है। ऋषभदेव को जो स्थान और महत्त्व जैन धर्म में प्राप्त है, वही स्थान और महत्त्व उन्हें वैदिक धर्म में भी प्राप्त भावनात्मक एकता है। एक में उन्हें आद्य तीर्थंकर मानकर मोक्ष-मार्ग के प्रणेता स्वीकार किया है तो दूसरे के प्रतीक ऋषभदेव में उन्हें भगवान का अवतार मानकर मोक्ष-मार्ग के आद्य प्रणेता माना गया है। वेदों में उनका वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है तो हिन्दू पुराणों में उनके चरित्र में कुछ अतिरजना करदी। इन दोनों ही बातों की परत उघाड़ कर हम भाँके तो इनमें भी वही चरित्र मिलेगा जो जैन पुराणों में है। इसलिये हमारा विश्वास है कि जैन और वैदिक धर्मों की दूरी को कम करने के लिये भगवान ऋषभदेव की मान्यता एक सुदृढ़ सेतु बन सकती है।



भरत-ब्राह्मवली-खण्ड



१३. भरत की धर्म-रुचि

पुत्रोत्पत्ति, चक्रोत्पत्ति और भगवान को केवलज्ञान-प्राप्ति के तीन समाचार एक समय में—एक दिन भरत महाराज राजदरवार में बैठे हुए थे। तभी धर्माधिकारी पुरुष ने आकर समाचार दिया—‘परम भट्टारक महाराज की जय हो। तीन लोक के स्वामी भगवान ऋषभ देव को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई है। पुरिमताल नगर के उद्यान में इन्द्र और देव भगवान का केवलज्ञान कल्याणक मनाने के लिये एकत्रित हुए हैं।’ इसी समय आयुध-शाला की रक्षा करने वाले अधिकारी पुरुष ने सम्राट् का अभिवादन करते हुए उच्च स्वर से निवेदन किया—‘सम्राट् का यश-वैभव दिगन्त व्यापी हो। आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।’ अभी सैनिक अधिकारी निवेदन समाप्त भी नहीं कर पाया था कि अन्त पुर के कञ्चुकी ने सम्राट् के चरणों में झुककर एक और हर्ष समाचार सुनाया—‘देव के कुल और वैभव की वृद्धि हो। देव के पुत्र-रत्न की उत्पत्ति हुई है।’

तीनों कार्य एक साथ हुए। तीनों के समाचार एक साथ आये। सुनकर सम्राट् एक क्षण के लिये विचार मग्न होगये—तीनों ही हर्ष समाचार हैं। फिर इनमें से किसका उत्सव पहले करना चाहिये। ये तीनों समाचार क्रमशः धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के फल हैं। भगवान के केवलज्ञान की प्राप्ति का समाचार धर्म का परिणाम है। चक्ररत्न की प्राप्ति अर्थ-पुरुषार्थ का फल है क्योंकि चक्र से ही अर्थ-प्राप्ति होगी। इसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति का समाचार काम पुरुषार्थ का फल है। किन्तु वस्तुतः तो ये तीनों ही धर्म के साक्षात् फल हैं। इन सबका मूल धर्म है। अतः सबसे प्रथम धर्म-कार्य करना चाहिये।

प्रथम केवल्य-पूजा, सांसारिक कार्य बाद में—सम्राट् ने तीनों कार्यों में धर्म को प्रमुखता दी। अतः उन्होंने भगवान के केवलज्ञान की पूजा करने का निश्चय किया। वे अपने आसन से उठे और सात पग चलकर वही से भगवान की भाव वन्दना की। फिर उन्होंने नगर में घोषणा कराई कि भगवान ऋषभदेव को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। महाराज भरत बन्धु बान्धवों सहित भगवान के दर्शनो के लिये प्रस्थान कर रहे हैं। सब नगरवासी भी महाराज के साथ जाकर भगवान के दर्शनो का पुण्य-लाभ लें।’

राजकीय घोषणा को सुनकर परिजन और पुरजन सभी एकत्रित हो गये। तब महाराज भरत अपने बन्धुओं, अन्त पुर की स्त्रियों और नागरिकों के साथ सेना लेकर और पूजा की बड़ी भारी सामग्री लेकर रवाना हुए। लोग विविध वाहनो पर चल रहे थे। सेना में विविध प्रकार के वाद्य बज रहे थे। विविध प्रकार की ध्वजारें फहरा रही थीं। जब भरत पुरिमताल नगर के बाहर पहुँचे तो सबने एक अदृष्टपूर्व दृश्य देखा, समवसरण लगा हुआ था; त्रैलोक्येश्वर भगवान अशोक वृक्ष के नीचे गन्ध कुटी में विराजमान हैं। भरत ने सर्व प्रथम समवसरण की प्रदक्षिणा दी। फिर वे द्वार से भीतर प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने मानस्तम्भों की पूजा की। फिर वे समवसरण की

शोभा देखते हुए आगे बढ़े। वे जैसे जैसे आगे बढ़ते जा रहे थे, उनका आश्चर्य भी उसी क्रम से बढ़ रहा था। एक अद्भुत ससार की सृष्टि निमिष मात्र में हो गई, जहाँ ससार का सम्पूर्ण वैभव विद्यमान है किन्तु उस वैभव को देखकर वैभव प्राप्ति की मन में कोई ललक नहीं, अपितु सम्पूर्ण वातावरण में धर्म की सुरभि व्याप्त है। सासारिक कामनायें मानो समवसरण के द्वार से ही लौट गई हो क्योंकि समवसरण के भीतर उनका प्रवेश वर्जित है।

जब भरत आश्चर्य विमुग्ध होकर परिखा, वन, स्तूप आदि को देख रहे थे, तब द्वारपाल देव आये और वे भरत को मार्ग दिखाते हुए समवसरण में ले गये। वहाँ भरत ने श्रीमण्डप की विभूति को देखा। वे प्रथम पीठिका पर चढ़े और प्रदक्षिणा दी। वहाँ उन्होंने धर्म चक्रों की पूजा की। फिर उन्होंने द्वितीय पीठ पर स्थित धर्म-ध्वजाओं की पूजा की। फिर उन्होंने गन्धकुटी में विराजमान और अष्ट प्राप्तिहार्यों से विभूषित देवाधिदेव भगवान् ऋषभ-देव की भक्ति भावपूर्वक पूजा की। भगवान् अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान थे। उनके ऊपर तीन छत्र सुशोभित थे। उनके ऊपर निरन्तर पुष्पवृष्टि हो रही थी। आकाश में देव-दुन्दुभियों का मधुर नाद हो रहा था। भगवान् की अतिशय गम्भीर दिव्य ध्वनि खिर रही थी। भगवान् के शरीर से दिव्य स्निग्ध प्रभा विकीर्ण हो रही थी। भगवान् के दोनों ओर चमर दूर रहे थे। और वे महार्घ्य आसन पर विराजमान थे। भगवान् के इस दिव्य रूप को देखकर भरत भक्ति विह्वल हो गए। उनके हृदय में भक्ति की उत्ताल तरंगे प्रवाहित होने लगी। भक्ति का आवेग शब्दों में फूट पड़ा और वे भगवान् की स्तुति करने लगे। समस्त देव आश्चर्यपूर्वक भरत को देखने लगे।

जब भरत स्तुति कर चुके, तब वे पीठिका से उतर कर मनुष्यों के कक्ष में जाकर बैठ गए। सारी सभा स्तब्ध होकर भगवान् के मुख की ओर देख रही थी। उस समय भरत ने हाथ जोड़कर भगवान् से धर्म का स्वरूप पूछा। तब भगवान् की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई। उन्होंने धर्म का स्वरूप, धर्म के साधन, मार्ग और उसका फल विस्तारपूर्वक बताया। भगवान् का उपदेश सुनकर भरत महाराज ने सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रतों की परम विशुद्धि को प्राप्त किया। अर्थात् उन्होंने श्रावक के पाँच अणुव्रत और सप्तशील धारण किए। अन्य अनेक लोगों ने मुनि-दीक्षा धारण की। कुछ ने श्रावक के व्रत लिए। भरत के लघु भ्राता पुरिमताल नगर के स्वामी वृषभसैन ने मुनि-दीक्षा ले ली और वह भगवान् का मुख्य गणधर बना।

समवसरण से लौटने पर भरत ने पुत्र जन्मोत्सव मनाया और चक्ररत्न की पूजा की।



१४. भरत की दिग्विजय

भगवान् ऋषभदेव को फाल्गुन कृष्ण एकादशी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उसके कुछ दिनों के पश्चात् भरत भगवान् के दर्शनो के लिए गया था। और वहाँ से आकर पुत्र जन्म का उत्सव मनाया था तथा चक्ररत्न की पूजा की थी। इसी प्रकार राज कार्य करते हुए शरद ऋतु आ गई। भरत का दिग्विजय द्वारा प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। उन्होंने अनेक उद्धत और प्रतापी राजाओं को अपने वश में कर लिया था। तभी उन्होंने निश्चय किया कि इस विस्तृत अजनाभ वर्ष को विजय करके सम्पूर्ण देश की राजनैतिक एकता स्थापित की जाय।

यह निश्चय करके उन्होंने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। उन्होंने उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किया। सिर पर मुकुट धारण किया। वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि और कानों में कुण्डल पहने। उनके ऊपर रत्न निर्मित छत्र सुशोभित था। उनके दोनों ओर वाराङ्गनायें चमर ढोर रही थीं। वे स्वर्ण निर्मित और रत्नखचित रथ में जाकर विराजमान हो गए। उनके आगे पीछे चारों ओर मुकुटवद्ध राजा लोग थे। उनके साथ एक विशाल

सेना थी। सबसे आगे पदाति सेना चल रही थी। उसके पीछे क्रमशः अश्व, रथ और हाथियों पर आरुढ़ सेना थी। सेना की प्रत्येक टुकड़ी की अपनी अलग ध्वजा थी। जब महाराज भरत नगर में होकर निकले, उस समय मकानों के गवाक्षों से सुन्दरियों ने उन पर पुष्प और लाजा की वर्षा की। चारों ओर महाराज का जय जयकार हो रहा था। सेना के आगे आगे सूर्य मण्डल के समान देदीप्यमान और देवों द्वारा रक्षित चक्ररत्न चल रहा था। सारी सेना चक्ररत्न के पीछे पीछे चल रही थी। चक्ररत्न और दण्डरत्न दोनों ही एक-एक हजार देवों से रक्षित दिव्य अस्त्र होते हैं।

सबसे पहले वे पूर्व दिशा की ओर गये। सेना के आगे-आगे सेनापति दण्ड रत्न की सहायता से मार्ग को सुगम और समतल बनाता जा रहा था। उन्होंने गंगा नदी के तट पर पड़ाव डाला। मार्ग में जितने राजा मिले, वे रत्नों का उपहार और यौवनवती कन्याओं को लेकर सम्राट की सेवा में उपस्थित हुए।

दूसरे दिन महाराज भरत विजय पर्वत नामक हाथी पर सवार होकर चले। सेनापतियों ने राजमुद्राङ्कित आदेश सारी सेना में प्रचारित किया कि आज समुद्र-तट पर चलकर ही विश्राम करना है, इसलिए सेना को शीघ्रता-पूर्वक प्रयाण करना है। इस आदेश के प्रचारित होते ही सेना ने त्वरित गति से प्रयाण किया। मार्ग में अनेक भयभीत राजाओं ने आकर भरत महाराज को प्रणाम किया और उनकी अधीनता स्वीकार की। कोई राजा महाराज भरत से युद्ध करने का साहस नहीं करता था, इसलिए इन्हें किसी में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्विधीभाव और आश्रय नहीं करने पड़ते थे। भरत ने न तो कभी तलवार पर अपना हाथ लगाया और न कभी धनुष पर प्रत्यक्षा ही चढ़ाई। अनेक म्लेच्छ राजाओं ने उन्हें हाथी दात, गज मुखता, चमरी गाय के बाल और कस्तूरी भेंट की। मार्ग में सेनापति ने महाराज की आज्ञा से अन्तपालों के सहस्रों किलो को अपने अधिकार में किया। अन्तपालों ने रत्न, सुवर्ण आदि भेंटकर भरत की आज्ञा स्वीकार की। इस प्रकार मार्ग के सभी राजाओं को अपने वशवर्ती बनाते हुए गंगासागर के तट पर पहुँचे। वहाँ गंगा के उपवन की वेदिका के उत्तर द्वार से प्रवेश करके वन में पहुँच कर सेना ने विश्राम किया।

भरत महाराज सेना को सेनापति के सुपुर्द करके अकेले ही, दिव्य अस्त्रों से सुसज्जित होकर अजितजय रथ में बैठकर समुद्र विजय के लिये चल दिए। उनका रथ स्थल और जल सर्वत्र समान रूप से चल सकता था। उन्होंने सारथी को जल में रथ को चलाने का आदेश दिया। उनके आदेशानुसार सारथी ने समुद्र में रथ बढ़ाया। रथ बारह योजन तक समुद्र में चला गया। तब भरत ने एक दिव्य वाण धनुष पर सन्धान किया, जिस पर लिखा हुआ था कि 'मैं वृषभदेव तीर्थंकर का पुत्र भरत चक्रवर्ती हूँ। इसलिए मेरे उपभोग के योग्य क्षेत्र में रहने वाले सब व्यतर देव मेरे अधीन हों।' वह वाण सनसनाता हुआ मागध देव के महल के आगमन में जाकर गिरा। उसे देखते ही सम्पूर्ण व्यन्तरो में आतक व्याप्त होगया। भयभीत मागध देव व्यन्तरो के परिकर सहित उस वाण को रत्न मजूपा में रखकर भागा हुआ भरत के निकट आया और उन्हें अनर्घ्य रत्न भेंटकर उनकी अधीनता स्वीकार की। इसके पश्चात् भरत पुनः अपने स्कन्धावार में लौटे।

अगले दिन सेना ने प्रस्थान किया। सेना महाराज के आदेशानुसार समुद्र के किनारे-किनारे चली। चक्रवर्ती का आगमन सुनकर राजा लोग छत्र-मुकुट त्याग कर चक्रवर्ती का स्वागत करने अपने राज्य को सीमा पर भेंट लिए उपस्थित हो जाते। जो भोगी विलासी राजा थे, भरत ने उन्हें सत्ताच्युत करके उनके स्थान पर कुलीन पुरुषों को राज्य शासन सौंपा। अनेक राजा भय के कारण राज्य छोड़कर भाग गए। जिसने तनिक भी शत्रुता प्रदर्शित की, भरत ने उनके राज्य, धन, संपत्ति छीन ली। कोई अन्यायी राजा बच नहीं सका। अनुकूल राजाओं को अभय देकर भरत ने सम्मानित किया।

सेनापति ने बिना किसी प्रतिरोध के अंग, वंग, कलिंग, कुरु, अवन्ती, पाँचाल, काशी, क्रोशल, विदर्भ, कच्छ, चेदि, वत्स, सुहा, पुण्ड्र, ओण्ड्र, गौड, दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर, और मध्यदेश के राजाओं को अपने वश में कर लिया। उसने कालिन्द, कालकूट, भिल्ल देश और मल्लदेश में पहुँच कर उनसे अपनी आज्ञा मनवाई। उसकी सेना के हाथियों ने हिमवान पर्वत के निचले भाग से लेकर वैभार और गोरथगिरि पर स्वच्छन्द विचरण

किया। वे हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती, रथास्फा, गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निचुरा नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कम्बुक नामक सरोवरो में घूमे थे। इन हाथियों ने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदी के जल का निर्वाध पान किया था। इन विजयी हाथियों ने ऋष्यमूक, कोलाहल, माल्य और नागप्रिय पर्वतों को रोद डाला। इन्होंने चेदि और ककूश देश के हाथियों को परास्त कर दिया।

भरत की सेना के तीव्रगामी घोड़े शोण नदी के दक्षिण और नर्मदा नदी के उत्तर और बीजा नदी के दोनों ओर और मेखला नदी के चारों ओर घूमे थे।

भरत ने पूर्वदिशा के सब राजाओं को जीतकर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। दक्षिण में भरत ने त्रिकलिंग, ओड्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देश के राजाओं पर विजय प्राप्त की। उन्होंने कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पाड्य और अन्तर पाड्य देश के राजाओं के मस्तक अपने चरणों में नवाये। चक्रवर्ती की आज्ञानुसार उनका सेनापति जयकुमार तेला, इक्षुमती, नकरवा, वगा, स्वसना, वैतरणी, माषवती, महेन्द्रका, गोदावरी, सुप्रयोगा, कृष्णवेणा सन्तीरा, प्रवेणी, कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका, और अम्बर्णा नदियों को पार कर उनके तटवर्ती राजाओं को आज्ञानुवर्ती बनाता हुआ कर्णाटक, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य आदि देशों को अपने आधीन करने में सफल हुआ। चक्रवर्ती ने समुद्र में जाकर वरतनु नामक देव को जीता।

सम्पूर्ण दक्षिण देश को जीतकर महाराज भरत ने पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। वे सह्याद्रि को लाघकर समुद्र तट पर पहुँचे। भीमरथी, दारुवेणा, नीरा, मूला, वाणा, केतवा, करीरी, प्रहरा, मुररा, पारा, मदना, गोदावरी, तापी, लागलखातिका आदि नदियों को उनकी सेनाओं ने आननफानन में पार कर लिया। किसी का साहस नहीं हुआ जो उनका विरोध करता। सह्याद्रि को पाकर सेना विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँची। फिर वहा से बढ़ती हुई वह सेना सिन्धु नदी के तट पर जा पहुँची और सम्पूर्ण पश्चिम दिशा के राजाओं को जीता।

इसके बाद भरत ने उत्तर दिशा की ओर अभियान किया। वे विजयार्ध पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ विजयार्धदेव चक्रवर्ती के दर्शनो के लिये आया और बहुमूल्य भेंट देकर चक्रवर्ती को प्रसन्न किया तथा उनका अभिषेक किया। फिर विजयार्ध की वेदी पारकर म्लेच्छ देश में पहुँचे। वहाँ अनेक म्लेच्छ राजाओं ने चक्रवर्ती का प्रतिरोध किया। किन्तु सेनापति जयकुमार ने उन्हें आननफानन में पराजित कर दिया। फिर सेना तमिस्रा नामक विशाल गुफा को पारकर मध्यम म्लेच्छ देश में पहुँची। वहाँ चिलात और आवर्त देश के राजाओं ने चक्रवर्ती की सेना का सयुक्त होकर सामना किया। उन राजाओं के सहायक नागमुख और मेघमुख नामक दो देवों ने बड़ा उपद्रव किया। किन्तु जयकुमार सेनापति ने उन दोनों को युद्ध में परास्त कर दिया। तभी से उनका नाम मेघेश्वर पड़ गया। तब दोनों राजाओं ने भी आकर भरत की अधीनता स्वीकार करली। फिर चक्रवर्ती ने हिमवत कूट पर पहुँच कर हिमवान् पर्वत के राजाओं पर विजय प्राप्त की। फिर वे वृषभाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ भरत ने काकिणी रत्न से पर्वत की एक सपाट शिला पर अपना नाम अंकित करना चाहा। उन्होंने सोचा था कि समस्त पृथ्वी को जीतने वाला मैं ही प्रथम चक्रवर्ती हूँ। किन्तु जब उन्होंने अपना नाम उस शिला पर लिखना चाहा तो उन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ नाम लिखने के लिये कोई स्थान नहीं है। वहाँ शिला पर असंख्य चक्रवर्तियों के नाम उत्कीर्ण हैं। तब भरत का अभिमान नष्ट हो गया और उन्होंने स्वीकार किया कि इस भरत क्षेत्र पर मेरे समान शासन और विजय करने वाले असंख्य सम्राट् मुझसे पहले हो चुके हैं। तब उन्होंने एक चक्रवर्ती की प्रशस्ति को अपने हाथ से मिटाया और अपनी प्रशस्ति अंकित की।

इसके पश्चात् विजयार्ध पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा भेंट लेकर भरत की सेवा में उपस्थित हुए। ये दोनों राजा नमि और विनमि चक्रवर्ती के लिये उपहार में सुन्दर कन्याएँ भी लाये थे। भरत ने राजा नमि की बहन सुभद्रा के साथ विद्याधरों की परम्परानुसार विवाह किया। यहीं सुभद्रा चक्रवर्ती के पटरानी पद पर प्रतिष्ठित हुई।

इस प्रकार चारों दिशाओं के सम्पूर्ण राजाओं पर विजय प्राप्त कर और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का चक्रवर्तित्व स्थापित कर विजय आनन्द का रसपान करते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी विजयिनी सेना के साथ अयोध्या की ओर लौटे। इन्हें नव निधियों और चौदह रत्नों का लाभ प्राप्त हुआ था। सम्पूर्ण खण्ड को विजय करने में भरत को साठ हजार वर्ष लगे। प्रयाण करते हुए भरत जब कैलाश पर्वत के समीप पहुँचे तो उनका हृदय जिनैन्द्रदेव की भक्ति से भर गया। वे जिनैन्द्रदेव की पूजा के उद्देश्य से कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उनके साथ अनेक मुकुटवद्ध राजा चल रहे थे। कैलाश पर्वत पर पहुँच कर वे सवारी छोड़ कर पैदल ही चले। उन्होंने दूर से ही जगद्गुरु ऋषभदेव का समवसरण देखा। वे वहाँ पहुँचकर धूलिसाल में आगे बढ़े और मानस्तम्भ की पूजा की। फिर वापिका, कोट, अष्ट मंगल द्रव्य, नाट्यशालाओं, वनों, चैत्य वृक्षां, ध्वजाओं, सिद्धार्थ वृक्षां, रत्नोपों आदि का अवलोकन-पूजन करते हुए श्रीमण्डप में विराजमान भगवान के दर्शन किये। उन्होंने जमीन पर घुटने टेक कर भगवान को नमस्कार किया। फिर अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा की। उनको स्तुति की। फिर यथास्थान बैठकर भगवान के मुख से धर्म का स्वरूप सुना। फिर भक्तिपूर्वक भगवान को तथा वहाँ विराजमान समस्त मुनियों को नमस्कार कर उन्होंने समवसरण से प्रस्थान किया और अपनी सेना के साथ चलते हुए वे यथासमय अयोध्या के निकट पहुँचे।



१५. भरत के भाई-बहनो का वैराग्य

भगवान ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थी—ब्राह्मी और सुन्दरी। ब्राह्मी भरत की बहन और नन्दा माता की पुत्री थी तथा सुन्दरी बाहुवली की बहन और सुनन्दा माता की पुत्री थी। इनकी दीक्षा के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा में मान्य भगवज्जनसेन कृत आदिपुराण में केवल इतना उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मी और सुन्दरी भगवान का उपदेश सुनकर पुरिमताल नगर में दोनों ने भगवान के समीप दीक्षा धारण कर ली। आदिपुराण २४।१७५-१७७ के शब्दों में 'भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के बीच में गणिनी के पद को प्राप्त हुई थी। वह ब्राह्मी सब देवों के द्वारा पूजित हुई थी। उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरदऋतु की नदी के शीलरूपी किनारे पर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हसी के समान सुशोभित हो रही थी। ऋषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था, जिससे उसने भी ब्राह्मी के बाद दीक्षा धारण कर ली थी।' इस विवरण के अतिरिक्त और कोई विवाह या ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विवरण इनके सम्बन्ध में इस पुराण में नहीं मिलता।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा^१ में ब्राह्मी का बाहुवली के साथ और सुन्दरी का भरत के साथ सम्बन्ध हुआ था। ब्राह्मी ने तो भगवान को केवलज्ञान होते ही दीक्षा ले ली किन्तु सुन्दरी इस समय दीक्षा नहीं ले सकी क्योंकि भरत ने उसे इसकी अनुमति नहीं दी। भरत चाहता था कि षट्खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके जब मैं चक्रवर्ती बन जाऊँ, तब सुन्दरी को पटरानी पद प्रदान किया जाय। किन्तु सुन्दरी के मन में प्रबल वैराग्य भावना थी। जब भरत दिग्विजय के लिये गया तब उसने आचाम्ल तप करना आरम्भ कर दिया। साठ हजार वर्ष व्यतीत होने पर जब भरत सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीतकर वापिस आया तो बारह वर्ष महाराज्याभिषेक समारोह में लग गये।

१ आवश्यक नियुक्ति, आवश्यक जूणि तथा मलयगिरि श्रुति

इससे निवृत्त होने पर एक दिन वह सुन्दरी के महलो मे पहुँचा तो उसे अत्यन्त कृशकाय देखकर भरत को अत्यन्त दुःख हुआ। सेवको से उसे इसका कारण ज्ञात हुआ तो उसने पूछा—सुन्दरी ! तुम गृहस्थ जीवन मे रहना चाहती हो अथवा दीक्षा लेना चाहती हो। सुन्दरी ने दीक्षा लेने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रगट की। तब भरत ने उमे ब्राह्मी के निकट दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार उसने भी दीक्षा लेली।

इस कथा के बावजूद श्वेताम्बर परम्परा ने भी दोनो को बाल ब्रह्मचारिणी माना है।

चक्रवर्ती भरत अपनी विशाल बाहिनी के साथ अयोध्यापुरी के निकट पहुँचा। नगरवासियो ने चिरकाल बाद वापिस लौटे अपने हृदयसम्राट् के स्वागत के लिए अयोध्यापुरी को खूब सजाया था। सारे राजमार्ग और वीथियाँ हाट और निगम तोरणो और बन्दनवारो से सजाये थे। राजमार्गों पर सुगन्धित चन्दन के जल का छिडकाव किया गया था। सौभाग्यवती स्त्रियो ने मंगलकलश रखकर रत्नचूर्ण से चौक पूरे थे। सारा नगर चक्रवर्ती के स्वागत के लिए पलक पावडे विछाये हुए अधीरता से प्रतीक्षा कर रहा था। किन्तु समस्त शत्रुदल का विध्वंस करने वाले चक्रवर्ती का चक्ररत्न गोपुर द्वार के बाहर ही ठहर गया। उस समय चक्ररत्न की रक्षा करने वाले देव इस अप्रत्याशित घटना से आश्चर्य-चकित रह गये।

भाइयो का
वैराग्य

सेनापति आदि प्रमुख लोगो ने इस घटना की सूचना चक्रवर्ती को दी। चक्रवर्ती भी इसका कुछ कारण नही खोज पाये। तब उन्होने पुरोहित को बुलाया और उससे पूछने लगे—‘आर्य ! समस्त शत्रुदल का सहार करने वाला यह चक्ररत्न मेरे ही नगर के द्वार पर क्यों रुक गया है ? यह अन्दर प्रवेश क्यों नही करता ? जो समुद्र मे, विजयार्ध की गुफाओ मे, पर्वतो और वनो मे कही नही रुका, वह अव्याहतगति यह चक्र मेरे ही घर के आगन मे क्यों रुक गया है ? आप दिव्य नेत्र है। चक्र के रुकने का कोई साधारण कारण नही हो सकता। आप विचार कर बताइये। आप ही इसके रुकने का कारण बता सकते है।

भरत के ऐसा कहने पर पुरोहित कुछ समय के लिए विचारमग्न हो गये। तब निमित्त-ज्ञान से इसका कारण जानकर बोले—‘देव ! हम लोगो ने निमित्त-ज्ञानियो से सुना है कि जबतक दिग्विजय करना कुछ भी शेष रहता है, तब तक चक्ररत्न विश्राम नही लेता। व्यवहार मे न आपका कोई मित्र है और न शत्रु है। सब आपके सेवक है। तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है। आपने बाहरी राजाओ को जीत लिया है किन्तु आपके घर के लोग अब भी आपके अनुकूल नही है। आपने समस्त शत्रु-पक्ष को जीत लिया है किन्तु आपके भाई आपके प्रति नम्र नही हैं। उन्होने आपको नमस्कार नही किया है। आपके भाई आपके विरुद्ध खडे हुए है और सजातीय होने से वे बध्य भी नही हैं। अत आप उनके पास दूत भेजिये जो बातचीत द्वारा उन्हे आपके अनुकूल बनावें।

पुरोहित के कथन को चक्रवर्ती बडे ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उन्हे पुरोहित का यह परामर्श युक्तियुक्त लगा। उन्हीने सोचा—बाहुबली महाबलवान है। उसे छोडकर शेष भाइयो के पास मैं दूत भेजूंगा, यह विचार कर उन्हीने योग्य निःसृष्टार्थ सब भाइयो के पास भेजे। सब भाइयो ने दूतो के मन्देश सुने। फिर वे परस्पर परामर्श करने के लिए एक स्थान पर एकत्रित हुए। उन्हीने कहा—‘भरत हमारे अग्रज है। वे पिता के समान पूज्य हैं। किन्तु पिता जी तो अभी विद्यमान हैं। यह वैभव भी उन्ही का दिया हुआ है। इसलिए हम लोग इस विषय मे पिताजी की आज्ञा के आधीन है, स्वतन्त्र नही है।’ इस प्रकार राजजनोचित नीतिमत्तापूर्ण उत्तर देकर दूतो का यथोचित सम्मान किया और भरत के पत्र का उत्तर देकर और उनके लिए उपहार देकर दूतो को विदा किया।

तब सब भाई भगवान ऋषभदेव के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उन्हीने भगवान के दर्शन किये, उनकी पूजा की। फिर निवेदन किया—हे देव ? आपने हमे जन्म दिया। आपसे हमे ससार के समस्त वैभव मिले। हम केवल आपकी प्रसन्नता के इच्छुक हैं। हम आपको छोडकर और किसी की उपासना नही करना चाहते। भरत हमे प्रणाम करने के लिए बुलाते हैं। किन्तु जो सिर आपके चरणो मे झुका है, वह अन्य किसी के चरणो मे नही झुक सकता। जिसमे किसी अन्य को प्रणाम नही करना पडता, ऐसी वीर दीक्षा धारण करने के लिए हम आपके चरणो मे उपस्थित हुए हैं।

भगवान ने उन राजकुमारों को अविनाशी मोक्षगुण प्राप्त करने का उपाय बताते हुए उपदेश दिया। भगवान के हितकारी वचन सुनकर उन राजकुमारों को वैराग्य हो गया। उन्होंने भगवान के चरणों में दीक्षा धारण करली और वे निर्गन्ध दिगम्बर मुनि बन गये। वे घोर तप करने में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने द्वादशाङ्ग वाणी का अध्ययन किया। उन्होंने ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।



१६. भरत-बाहुवली-युद्ध

चक्रवर्ती विचार करने लगे कि मेरे अन्य भाइयों और बाहुवली में बहुत अन्तर है। बाहुवली महा बलवान, मानधन से युक्त और युद्ध में शत्रुओं के लिए महा भयकर है। वह दाम, दण्ड और भेद से वज्र में आने वाला नहीं है। इसलिए उस पर साम नीति का ही प्रयोग करना उचित है। यदि वह फिर भी वज्र में नहीं भरत और बाहुवली आया, तब उस परिस्थिति पर पुनः विचार कर जो उचित होगा, वह किया जायगा। यह का निर्णायक युद्ध विचार कर चक्रवर्ती ने नीति निचक्षण एक चतुर दूत को बाहुवली के पास भेजा।

वह दूत शीघ्रतापूर्वक मार्ग तय करता हुआ बाहुवली के पौदनपुर नामक नगर में पहुँचा। उसने राजद्वार पर जाकर द्वारपाल से अपना परिचय और उद्देश्य बाहुवली के पास भिजवा दिया। बाहुवली ने दूत को तत्काल अन्दर बुला भेजा। दूत ने अप्रतिम सौन्दर्य और वीरदर्प की राशि कुमार बाहुवली को देखा। उसने कुमार बाहुवली के समक्ष जाकर उनके चरणों में नमस्कार किया। कुमार ने उसका यथोचित सम्मान करके अपने पास ही बैठाया। कुमार ने मन्द स्मित द्वारा अपने भाई चक्रवर्ती की कुशल मंगल पूछी।

तब दूत ने अत्यन्त विनयपूर्वक उत्तर दिया—हे प्रभो! हम तो अपने स्वामी के सेवक हैं। उनका सन्देश पहुँचाना ही हमारा कर्तव्य है। भरत इक्ष्वाकुवंशी हैं, भगवान् ऋषभदेव के पुत्र हैं, आपके बड़े भ्राता हैं। उन्होंने भरत क्षेत्र के समस्त राजाओं, देवों और विद्याधरों को जीत लिया है। समुद्र, गंगा और सिन्धु के अधिष्ठाता देवों ने उनकी आरती उतागी है। उन्होंने वृषभाक्षल पर दण्डरत्न से अपना नाम उत्कीर्ण किया है। समस्त रत्न और निधियाँ उन्हें प्राप्त हैं। उन्होंने आपको आशीर्वाद दिया है और आज्ञा दी है कि समस्त द्वीप और समुद्रों तक फैला हुआ हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुवली के बिना शोभा नहीं देता। दूसरी बात यह है कि यदि आप उन्हें प्रणाम नहीं करते तो उनका चक्रवर्ती पद भी सुशोभित नहीं होता। इसलिये आप उन्हें जाकर नमस्कार करिये। उनकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती। जो उनकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं, उनके नियमन के लिये उनका चक्ररत्न है। इसलिये आप चलकर उनके मनोरथ पूर्ण कीजिये। आप दोनों भाइयों के मिलाप से ससार मिलकर रहेगा।

दूत के निवेदन करने पर कुमार बाहुवली मन्दमन्द मुस्कराते हुए बोले—हे दूत! तू बहुत चतुर है। तूने साम नीति की बात करते हुए भेद और दण्ड की भी बातें चतुराई से कह दी। किन्तु तूने इनका अयोग्य स्थान में प्रयोग किया है। बड़ा भाई वन्दनीय है किन्तु सिर पर तलवार रखकर प्रणाम कराना तो अयुक्त है। आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने राजा शब्द मेरे और भरत के दोनों के लिये दिया है। भरत राजराज बन जाय, हम अपने धर्मराज्य में रहकर राजा ही बने रहेंगे। भरत हम लोगों को बन्धु की तरह बुलाकर और प्रणाम कराकर पृथ्वी का कुछ टुकड़ा देना चाहता है। किन्तु मनस्वी पुरुष अपने भुजबल से भोग अर्जित करना पसन्द करता है, दूसरे के अनुग्रह से मिला हुआ दान उसके लिये तुच्छ होता है। वन में निवास करना अच्छा है, प्राण विसर्जन करना अच्छा है, किन्तु कुलाभिमानी पुरुष कभी दूसरे की आज्ञा के अधीन रहना या परतन्त्र रहना स्वीकार नहीं करेगा। हे दूत!

भगवान् ऋषभदेव द्वारा दी हुई हमारी पृथ्वी को भरत छोनना चाहता है। अतः उसका विरोध करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। मुझे पराजित किये बिना भरत इस पृथ्वी का भोग नहीं कर पायगी। तू भरत से जाकर कह देना कि अब तो हम दोनों का निर्णय युद्ध-भूमि में ही होगा।

इस प्रकार कहकर उस स्वाभिमानी कुमार बाहुवली ने दूत को विदा कर दिया। बाहुवली युद्ध की तैयारी करने लगे।

उधर जब दूत ने जाकर चक्रवर्ती भरत को सब समाचार सुनाये तो चक्रवर्ती की आज्ञा से समस्त सेना युद्ध के लिये प्रयाण कर दिया। दोनों ओर की सेनाये युद्ध-भूमि में आमने-सामने आ डटी। सेनापति लोग व्यूह-रचना करने लगे। तभी दोनों ओर के बुद्धिमान मंत्री लोग आपस में मिलकर परामर्श करने लगे—दोनों भाई चरम शरीरी हैं। युद्ध में इनमें से किसी की क्षति होने वाली नहीं है, केवल दोनों पक्ष के सैनिकों का ही सहार होगा। अतः इस अकारण युद्ध में जन-सहार से कोई लाभ नहीं है। इसलिये दोनों भाइयों का ही परस्पर तीन प्रकार का युद्ध हो। इन युद्धों में जो जीते, उसकी विजय स्वीकार कर लेनी चाहिए।

यह निर्णय दोनों भाइयों के समक्ष रक्खा गया और दोनों ने ही इसे स्वीकार कर लिया। दोनों ने जल-युद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध (मल्लयुद्ध) करने में अपनी सहभक्ति प्रदान कर दी।

श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टि युद्ध वाग्युद्ध, बाहु युद्ध और मुष्टि युद्ध इस प्रकार चार प्रकार के युद्ध माने हैं।

परस्पर युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुई सेना अब मूक दर्शक बन कर खड़ी थी। यह ससार का अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व युद्ध था, जिसमें अहिंसात्मक रीति से जय-पराजय का निर्णय होना था। यह हिंसा पर अहिंसा की विजय थी, जिसमें शस्त्रास्त्रों का प्रयोग नहीं हुआ, रक्त की एक बूंद नहीं गिरी। ऐसा अद्भुत युद्ध ससार ने न कभी देखा था, न सुना था। सम्पूर्ण पृथ्वी का साम्राज्य दो व्यक्तियों की शक्ति पर दाव पर लगा हुआ था।

भरत पाँच सौ धनुष ऊँचा था। बाहुवली की ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष थी। शारीरिक बल में भी बाहुवली भरत की अपेक्षा कुछ अधिक ही था। इन दोनों बातों का लाभ बाहुवली को मिला। सर्वप्रथम दृष्टि युद्ध हुआ। किन्तु भरत के पलक झपक गये। सबने इस युद्ध में भरत की पराजय स्वीकार कर ली। फिर दोनों भाई जल-युद्ध करने के लिए सरोवर में प्रविष्ट हुए। दोनों एक दूसरे पर पानी उछालने लगे। भरत बाहुवली के ऊपर जल उछालते तो वह उनकी छाती तक ही जाता, जबकि बाहुवली द्वारा उछाला हुआ जल भरत के मुँह और आँखों में भर जाता था। शीघ्र ही बाहुवली इस युद्ध में भी विजयी रहे। अब अन्तिम मल्ल युद्ध होना था। दोनों वीरों में जमकर मल्ल युद्ध हुआ। दोनों ही असाधारण वीर पुरुष थे। किन्तु दाव लगते ही बाहुवली ने भरत को ऊपर हाथों में उठाकर चक्र के समान घुमा दिया। बाहुवली ने यह विचार कर भरत को जमीन पर नहीं पटका कि ये बड़े हैं, बल्कि उन्होंने भरत को उठाकर कंधे पर बैठा लिया।

बाहुवली तीनों युद्धों में निर्विवाद विजय प्राप्त कर चुके थे। भरत-पक्ष के लोग लज्जा से सिर नीचा किये बैठे थे, तभी एक भयानक घटना घटित हो गई। भरत अपनी पराजय की लज्जा से क्रोधान्ध हो गये। उन्होंने चक्र-रत्न का स्मरण किया। चक्ररत्न स्मरण करते ही उनके पास आया। उन्होंने विवेकशून्य होकर बाहुवली के ऊपर चक्र चला दिया। किन्तु चक्र देवरक्षित होता है। वह सगोत्रज और चरम शरीरी का वध नहीं कर सकता। वह बाहुवली की ओर चला और उनकी प्रदक्षिणा देकर लौट गया। राजाओं ने इस कृत्य के लिये भरत को धिक्कारा।

बाहुवली ने केवल इतना ही कहा—आपने खूब पराक्रम दिखाया। और यह कहकर भरत को कंधे से उतार कर जमीन पर रख दिया। सबने बाहुवली की विजय स्वीकार की और उनकी बड़ी प्रशंसा की।

यद्यपि बाहुवली की यह विजय निर्विवाद थी, अनेक राजाओं ने उनकी इस विजय की प्रशंसा की, उन्होंने बाहुवली का सत्कार भी किया। किन्तु भरत द्वारा चक्र चलाये जाने से बाहुवली के मन पर उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। वे विचार करने लगे—हमारे बड़े भाई ने इस नरेश राज्य के लिये यह कैसा लज्जाजनक बाहुवली का बेराग्य कार्य किया है। धिक्कार है इस साम्राज्य-निप्सा को। यह राज्य प्राणी को छोड़ देता है किन्तु प्राणी इसे नहीं छोड़ना चाहता। मनुष्य का अहभाव और विषयलालसा मनुष्य से न जाने

कितने अकृत्य कराते हैं। किन्तु क्षणभंगुर जीवन का व्यय केवल अहंकार और विषयो के लिये करना क्या बुद्धिमत्ता है? इस मानव-जीवन का प्रयोजन इससे कहीं महान् है।

इसके पश्चात् उन्होंने भरत की भर्त्सना करते हुए कहा—हे राजाओं मे श्रेष्ठ। लज्जा को छोड़कर तुम सुनो। मेरे अभेद्य शरीर पर तुमने चक्र चलाकर बड़े दुस्साहस का कार्य किया है। तुम अपने भाइयों से इस राज्य को छीनकर अकेले ही उसका भोग करना चाहते हो। अब यह राज्य तुम्हें ही मुवारिक हो। मैं अब इस राज्य-लक्ष्मी का परित्याग करके तप-लक्ष्मी का वरण करना चाहता हूँ। मैंने आपकी विनय नहीं की थी, उसे आप क्षमा करें।

बाहुवली के वचन सुनकर भरत को भी अपने कार्य पर बहुत अनुताप हुआ और वे अपने कृत्य की निन्दा करने लगे। बाहुवली ने अपने पुत्र महावली को राज्य सोप कर भगवान् वृषभदेव के चरणों का ध्यान करते हुए मुनि-दीक्षा ले ली। वे वहाँ से विहार करते हुए कुछ समय भगवान् के निकट रहे। फिर वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे और एक वर्ष का प्रतिमा योग लेकर निश्चल खड़े होकर तपस्या करने लगे। वे कभी आहार के लिये नहीं गये। एक स्थान पर खड़े हुए उनके शरीर पर माधवी लताएँ चढ़ गईं। वामी के छिद्रों से भयानक सर्प निकल कर उनके चरणों पर फण फैलाकर बैठ जाते। सर्पों के वच्चे उनके शरीर में किलोल करते। उनके केश बढ़कर कन्धों तक लटकने लगे। विद्याधरियाँ आकर उन वासन्ती लताओं को हटाती, उनके पत्ते तोड़ देती। तीव्र तपस्या करते हुए उनका शरीर ज्यों ज्यों कृश होता जा रहा था, उनके कर्म भी उसी प्रकार कृश हो रहे थे। उन्होंने आहार, मैथुन, भय और परिग्रह इन चारों सजाओं पर विजय प्राप्त कर ली। उन्होंने अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लिया था। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थी। जाति विरोधी जीव उनके निकट निर्भय होकर विचरण करते थे।

जिस दिन उनका एक वर्ष का नियम पूरा होने वाला था, उसी दिन चक्रवर्ती भरत आये। उन्होंने आकर महामुनि बाहुवली की पूजा की। इससे पहले बाहुवली के मन में यह विकल्प रहता था कि भरत को मेरे कारण सकलेश पहुँचा है। किन्तु भरत द्वारा पूजा करने पर वह विकल्प भी दूर हो गया और तत्काल केवलज्ञान प्रगट हो गया। उसके पश्चात् चक्रवर्ती ने पुनः महापूजा की। भगवज्जिनसेन आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान से पहले भरतेश्वर ने जो पूजा की थी, वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान होने के पश्चात् जो पूजा की, वह केवलज्ञान का अनुभव करने के लिये की थी।

चक्रवर्ती की पूजा की कल्पना करना भी कठिन है। उन्होंने रत्नों का अर्घ वनाया था। गंगा के जल की जल धारा दीयी। रत्नों की ज्योति के दीपक चढ़ाये थे। अक्षत के स्थान पर मोती चढ़ाये थे। अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया था। कल्पवृक्ष के चूर्ण की धूप बनाई थी। पारिजात के पुष्पों से पुष्पों की पूजा की थी। और फलों के स्थान पर रत्न और निधियाँ चढ़ाई थी।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र और देवों ने आकर महामुनि बाहुवली की पूजा की। उस समय सुगन्धित वायु वह रहा था। आकाश में देव दुन्दुभि वज्र रही थी। पुष्प-वर्षा हो रही थी। मुनिराज के ऊपर तीन छत्र और उनके नीचे दिव्य सिंहासन सुशोभित हो रहा था। उनके दोनों ओर चमर ढोले जा रहे थे। देवों ने उनके लिये गन्धकुटी की रचना की। अब वे अरहन्त परमेष्ठी बन गए थे।

भगवान् बाहुवली ने समस्त पृथ्वी पर विहार किया और ससार को कल्याण-मार्ग का उपदेश दिया। अन्त में वे भगवान् वृषभदेव के समीप कैलाश पर्वत पर पहुँचे और वही से मुक्त हुए।

आदिपुराण में भरत के भेजे हुए दूत का जो वर्णन आया है, उसमें पोदनपुर के मार्ग तथा पोदनपुर के निकटवर्ती प्रदेश का वर्णन आया है, उससे पोदनपुर के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ता है। यद्यपि उससे यह

निर्णय कर सकना कठिन है कि पोदनपुर कहाँ था। किन्तु उससे इस बात पर प्रकाश अवश्य पड़ता है कि पोदनपुर के आसपास कौन कौन सी फसले होती थी। उसमें पर्व ३५ श्लोक

२८-२९ में वर्णन है कि नगर से बाहर धानो से युक्त मनोहर पृथ्वी को पाकर और पके हुए चावलो के खेतों को देखता हुआ वह दूत बहुत ही आनन्द को प्राप्त हुआ। जो बहुत से फलों से शोभायमान है

और किसानों के द्वारा बड़े यत्न से जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धान क गुच्छों को देखते हुए दूत ने मनुष्यों को बड़ा स्वार्थी समझा था ।' इस विवरण से प्रतीत होता है कि पोदनपुर के निकट धान की खेती बहुलता से होती थी ।

आगे इसी पर्व के श्लोक ३७ में ईश का वर्णन मिलता है । स्त्रियों के वर्णन में कवि ने उनकी शृंगार-सज्जा पर भी कुछ प्रकाश डाला है । इसमें बताया है कि वहाँ की कृषक-वालाओं ने धान की बालों से अपने कान को आभूषण बनाए थे । नील कमलों की मालाओं से अपनी चोटियाँ बांध रखी थी । उन्होंने तोते के रंग वाली हरी चोलियाँ पहन रखी थी (श्लोक ३२-३६)

उपर्युक्त विवरण से पोदनपुर की फसलों, स्त्रियों के शृंगार प्रसाधनों और वेष भूषण पर कुछ प्रकाश पड़ता है । हरिवंश पुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन बाहुवली को पोदनपुर नरेश तो स्वीकार करते हैं किन्तु दोनों पक्षों की सेनाओं की मुठभेड़ वितता नदी के पश्चिम दिग्भाग में मानते हैं । सम्भवतः वितता से उनका आशय वितस्ता (भेलम) नदी से है । किन्तु भेलम के पश्चिम दिग्भाग में न तो धान की खेती होती है, न ईश होती है और न स्त्रियों का परिधान और शृंगार वैसा होता है जैसा कि आदि पुराण में बताया गया है । इससे लगता है कि दोनों पुराणों में पोदनपुर की स्थिति के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं था ।

हरिवंश कथाकोष कथा २३ में पोदनपुर की अवस्थिति पर कुछ प्रकाश डाला गया है—'अथोत्तरापथे देशे पुरे पोदननामनि' अर्थात् पोदनपुर नामक नगर उत्तरापथ देश में था । इसी प्रकार कथा २५ में इसी के समर्थन में कहा गया है—'अथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरेऽभवत् ।' उत्तरापथ से आशय नक्षत्रशिला से है ।

किन्तु इसके विरुद्ध बाहुवली की मान्यता दक्षिण भारत में सर्वाधिक रही है और भरत ने बाहुवली की जिस स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया था, वह दक्षिण भारत में थी तथा उसकी पूजा रामचन्द्र, रावण और मन्दोदरी ने की थी, इसका समर्थन राजावलि कथे और मुनिवशाभ्युदय काव्य से भी होता है तथा आदिपुराण में धान और ईश की फसलों और कृषक वालाओं के परिधान आदि का जो वर्णन किया है, वह भी दक्षिण भारत की परम्परा से मिलता है ।

उत्तर पुराणकार आचार्य गुणभद्र ने स्पष्ट शब्दों में पोदनपुर को दक्षिण भारत में स्वीकार किया है । यथा—

जम्बू विशेषण द्वीपे भरते दक्षिणे महान् ।

सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरम् ॥७३॥६

अर्थात् जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में एक सुरम्य नामक बड़ा भारी देश है और वहाँ बड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है ।

श्री बादिराज सूरि ने भी पार्वनाथ चरित सर्ग १ श्लोक ३७-३८ में और सर्ग २ श्लोक ६५ में पोदनपुर को सुरम्य देश में बताया है । इस काव्य ग्रन्थ में सुरम्य देश को शालि चावलों के खेतों से भरा हुआ बताया है । यह कथन आदिपुराण के कथन से मेल खाता है ।

सोमदेव विरचित यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन) में 'रम्यक देश में विस्तृत पोदनपुर के निवासी' ऐसा कथन मिलता है—'रम्यक देश निवेशोपेत पोदनपुर निवेशिनो'

पुण्यास्रव कथाकोष कथा २ में 'सुरम्य देशस्य पोदनेश' ऐसा वाक्य है ।

(जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनतर साहित्य में भी पोदनपुर का उल्लेख पोटलि (पोत्तलि), पोदन, पोतन आदि नामों से मिलता है । बौद्ध ग्रन्थ चुल्लकलिंग अस्सक जातक में पोटलि को अस्सक जनपद की राजधानी बताया है और अस्सक देश को गोदावरी नदी के निकट सक्थ पर्वत पश्चिमी घाट और गोदावरी के निकट बताया है । सुत्तनिपात १७७ में अस्मक को गोदावरी के निकट बताया है । पाणिनि १।३७३ अस्मक को दक्षिण प्रान्त में बताते हैं । महाभारत (द्रोण पर्व) में अस्मक पुत्र का वर्णन है । उसकी राजधानी पोतन या पातलि थी । इसमें पोदन्य नाम भी दिया है)।

हेमचन्द्र राय चौधरी ने महाभारत के पोदन्य और बौद्ध ग्रन्थों के पोत्तन की पहचान आधुनिक बोधन से

की है। वह आन्ध्र प्रदेश के मजिरा और गोदावरी नदियों के सगम से दक्षिण में स्थित है। इसका समर्थन 'वसुदेव हिण्डि' से भी होता है। उसके २४ वे पञ्चावती लम्ब पृ० ३५४।२४० और पचम लम्ब पृ० १८७।२४१ में बताया है कि गोदावरी नदी को पार कर वह पोदनपुर पहुँच गया।

(उपर्युक्त प्रमाणों से पोदनपुर अश्मक, सुरम्य अथवा रम्यक देश में गोदावरी के निकट था जो आधुनिक आन्ध्र प्रदेश का बोधन प्रतीत होता है)।

श्वेताम्बर परम्परा में बाहुवली की राजधानी का नाम पोदनपुर के स्थान पर तक्षशिला दिया गया है। वहाँ सर्वत्र वहली देश (वाल्हीक) और तक्षशिला नगर का ही उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र, कुमारपाल प्रतिबोध, परिशिष्ट पर्व, विविध तीर्थकल्प इन ग्रन्थों में तथा विमलसूरिकृत पञ्चम चरित्र में तक्षशिला को ही बाहुवली की राजधानी माना है।

इस पोदनपुर को दिगम्बर परम्परा की निर्वाण भक्ति में सिद्ध क्षेत्र या निर्वाण क्षेत्र माना है।



१७. चक्रवर्ती का वैभव

भरत ने चारों दिशाओं के राजाओं को जीत लिया था। अब उनका कोई शत्रु शेष न था। भारत जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में स्थित है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है। और मध्य में विजयार्घ्य पर्वत पड़ा हुआ है। पश्चिम में हिमवान् से निकली हुई सिन्धु नदी बहती है और पूर्व में गंगा नदी, जिससे उत्तर भारत चक्रवर्ती का राज्या- के तीन विभाग हो जाते हैं। दक्षिण के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन विभाग हैं।

ये ही भारत के छह खण्ड हैं। इन छह खण्डों को भरत ने जीत लिया था और चक्रवर्ती पद धारण किया था। वह भारत का प्रथम चक्रवर्ती था।

दिग्विजय करके जब भरत अयोध्या नगरी में वैभव के साथ प्रविष्ट हुए तो समस्त राजाओं और नागरिकों ने अपने चक्रवर्ती सम्राट् का अभूतपूर्व स्वागत किया। तब शुभ मुहूर्त में राजाओं ने और प्रजा ने भगवान् ऋषभदेव के समान उनका राज्याभिषेक किया। राजाओं के साथ देवों ने प्रथम चक्रवर्ती का अभिषेक किया। उन्हें दिव्य वस्त्र और अलंकार पहनाये। उनकी जय घोषणा की। दुन्दुभि और मागलिक भेरियों का नगर में मधुर निनाद गूँजता रहा। गंगा और सिन्धु नदियों की अधिष्ठात्री देवियों ने आकर तीर्थ जल से अभिषेक किया। फिर अनेक देवों, विद्याधरों, नरेशों और प्रजा ने सिंहासनासीन चक्रवर्ती भरत के चरणों में भेंट समर्पित करके नमस्कार किया। फिर भरत ने समागत राजाओं का समुचित सत्कार किया।

महाराज भरत को चक्रवर्ती पद पाकर अभिमान नहीं हुआ, बल्कि उनके मन में दुःख था कि मैंने अपने भाइयों को यह विभूति नहीं वाँट पाई। सारी प्रजा ऐसे न्यायवत्सल स्वामी को पाकर अपने आपको सनाथ अनुभव करने लगी थी।

चारों ओर उनका जय जयकार हो रहा था—यह सोलहवां मनु है। यह प्रथम चक्रवर्ती है। राज-राजेश्वर हैं।

षट् खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती अपार वैभव के स्वामी थे। उनके पास चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रत्न निर्मित रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ पदाति थे। वे वज्रवृषभनारायण सहनन के धारी थे। उनका समचतुरस्र सस्थान था। उनके शरीर में चौसठ शुभ लक्षण थे। सम्पूर्ण राजाओं के सम्मिलित बल के बराबर उनके शरीर में बल था। उनके दरबार में बत्तीस

भरत का वैभव

हजार मुकुटबद्ध राजा थे। उनके आधीन बत्तीस हजार देश थे। उनके अन्तःपुर में बत्तीस हजार आर्य कुल की स्त्रियाँ थी, बत्तीस हजार म्लेच्छ (अनार्य) राजाओं द्वारा दी हुई अति रूपवती कन्याएँ थी, इनके अतिरिक्त उपहार स्वरूप दी गयी बत्तीस हजार और रानियाँ थी। इस प्रकार वे छियानव हजार अनुपम सुन्दरी रानियों के स्वामी थे।

उनके अधिकार में बत्तीस हजार रगशालाएँ थी। उनके राज्य में बहत्तर हजार नगर, छियानव करोड़ गाँव थे। निन्यानव हजार द्रोणमुख, अडतालीस हजार पत्तन, सोलह हजार खेत, छप्पन अन्तर्द्वीप, चौदह हजार सवाह थे। एक करोड़ हल, तीन करोड़ ब्रज (गौशालाएँ), सात सौ कुक्षिवास और अट्ठाईस हजार सघन वन थे। उनमें आधीन अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे। काल, महाकाल, नैऋत्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिग, शख और सर्वरत्न ४ नौ निधियाँ थी। उनके जड और चेतन चौदह रत्न थे। चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सा. अजीव रत्न थे। सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे। चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये रत्न श्रीगृह में प्रगट हुए थे। स्त्री, हाथी और घोड़ा की उत्पत्ति विजयार्ध पर्वत पर हुई थी। शेष रत्न निधियों के साथ अयोध्या में ही उत्पन्न हुए थे। उनकी पटरानी का नाम सुभद्रा था। उसके अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन करने में कविजन भी समर्थ नहीं हो सकते।

सोलह हजार देव उनकी निधियों, रत्नों और उनकी रक्षा करने में सदा तत्पर रहते थे। उनके प्रासाद के चारों ओर क्षितिसार नामक कोट था। सर्वतोभद्र नामक गोपुर था। उनको सेनाओं के पड़ाव का स्थान नन्द्यावर्त कहलाता था। उनके प्रासाद का नाम वैजयन्त था। दिक्स्वस्तिका नामक उनकी सभाभूमि थी। भ्रमण में जिस छड़ी को वे ले जाते थे, वह रत्न निर्मित थी। उसका नाम सुविधि था। गिरिकूटक नामक महल में बैठकर वे नगर का निरीक्षण किया करते थे। वर्धमानक नामक नृत्यशाला में बैठकर वे नृत्य का आनन्द लिया करते थे। विभिन्न ऋतुओं के योग्य उनके अलग-अलग महल थे। गरमी के लिए धारागृह, वर्षा-ऋतु के लिये गृहकूटक था। पुष्करावर्त नामक उनका विशेष महल था। उनके भण्डारगृह का नाम कुबेरकान्त था। अवतसिका नाम की उनकी रत्नमाला थी। उनका अजितजय नामक रथ, वज्रकाण्ड धनुष, वज्रतुण्डा नाम की शक्ति सिंहाटक भाला, सुदर्शन चक्र, चण्ड-वेग दण्ड आदि अमोघ शस्त्र थे। उनका विजयपर्वत हाथी, पवनजय घोड़ा ससार में अद्भुत थे। उनका भोजन इतना गरिष्ठ होता था, जिन्हें कोई दूसरा नहीं पचा सकता था।

इस प्रकार चक्रवर्ती की विभूति का वर्णन सीमित शब्दों में सीमित स्थान में करना अत्यन्त कठिन है।



८. भरत द्वारा वर्णव्यवस्था में सुधार

एक दिन भरत चक्रवर्ती के मन में विचार आया—मेरे पास अगाध सम्पदा है, अपार वैभव है। मैं इससे दूसरे का उपकार कैसे कर सकता हूँ। मुनिजन तो धन लेते नहीं। किन्तु गृहस्थों में ऐसे कौन हैं जो धन-धान्य, सम्पत्ति आदि के द्वारा पूजा के योग्य हों। जो अणुव्रतधारी हों, आवको में श्रेष्ठ हों, ऐसे व्यक्ति ही पूजा के अधिकारी हैं। तब ऐसे व्यक्तियों की परीक्षा करनी चाहिए। यह विचार कर उन्होंने समस्त राजाओं के पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने यहाँ के सदाचारी पुरुषों और सेवकों के साथ हमारे उत्सव में पधारे। इधर चक्रवर्ती ने अपने घर के आँगन में घास, फूलों के पौधे लगवा दिये। यथासमय सब लोग उत्सव में पधारे। जो अन्नती थे, वे तो बिना सोच-विचार के हरी घास

ब्राह्मण वर्ण की
स्थापना

पर चलते हुए आ गये। किन्तु जो व्रती लोग थे, वे हरी घास के कारण नहीं आ सके और वापिस लौटने लगे। तब चक्रवर्ती ने बहुत आग्रह करके उन्हें दूसरे स्थल-मार्ग से बुलाया।

चक्रवर्ती ने उनसे प्रेमपूर्वक पूछा—‘आपलोग पहले क्यों नहीं आ रहे थे और अब किस कारण आ गये हैं ? तब उन लोगो ने उत्तर दिया—‘देव ! आज पर्व का दिन है। पर्व के दिनों में घास, कोपल आदि का विधान नहीं किया जाता क्योंकि उनमें असंख्य जीव होते हैं।

यह उत्तर सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें दान-मान देकर सम्मानित किया। ब्रह्मसूत्र नामक व्रतसूत्र पहनाकर उन्हें चिन्ह दिया। प्रतिमाओं के अनुसार उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराये। इसके बाद भरत ने उन लोगो को श्रावक के योग्य षडावश्यक कर्मों का उपदेश दिया और उनका ब्राह्मण वर्ण स्थिर किया। वे लोग अपने तप और शास्त्रज्ञान के कारण ससार में पूज्य हुए।

एक दिन चक्रवर्ती के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके कुछ अनुचित तो नहीं किया। इसका समाधान भगवान के चरणों में जाकर कर लेना उचित होगा। यह विचार कर वे एक दिन भगवान के समवसरण में पहुँचे, भगवान की वन्दना और स्तुति की। फिर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक निवेदन किया—‘प्रभो ! मैंने श्रावकाचार में कुशल और व्रतो के पालन करने वाले त्यागियों को ब्राह्मण सज्ञा देकर नवीन ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, और उन्हें प्रतिमाओं के अनुसार एक से लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत व्रतो के चिन्ह स्वरूप प्रदान किये हैं। आपके रहते हुए मैंने मूर्खतावश यह कार्य किया है। हे देव ! मेरी यह जानने की इच्छा है कि ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके मैंने कुछ अनुचित तो नहीं किया।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान ऋषभदेव की दिव्य वाणी प्रगट हुई—हे वत्स ! तुमने धर्मात्मा द्विजों की पूजा की, उनका सम्मान किया, यह कार्य तुमने उचित किया। किन्तु इसमें जो दोष है, वह सुन। जब तक कृत युग अर्थात् चतुर्थ काल रहेगा, तब तक ये द्विज ब्राह्मण उचित आचार का पालन करते रहेंगे। किन्तु ज्यो-ज्यो कलि युग अर्थात् पचम काल निकट आता जाएगा, इनमें जातिमद बढ़ता जाएगा। ये सदाचार से भ्रष्ट होकर मोक्षमार्ग के विरोधी हो जायेंगे। आज इन्हे जो यह सम्मान मिल रहा है, पचम काल में इस सम्मान का मद इन्हे विवेकहीन बना देगा। वे अपने आपको और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ मानकर मोक्षमार्ग विरोधी शास्त्रों की रचना करेंगे। ये मिथ्यात्व में फसकर धर्मद्रोही बन जायेंगे। ये एक दिन हिंसा को भी धर्म मानने लगेंगे, स्वयं मांस भक्षण करने लगेंगे और प्राणी हिंसा द्वारा मुक्ति के मिथ्यामार्ग का प्रचार करेंगे। इसलिए यद्यपि वर्तमान में ब्राह्मण वर्ण की स्थापना में कोई अनौचित्य नहीं है, किन्तु भविष्य में ये ब्राह्मण ही जैनधर्म के कट्टर शत्रु बन जायेंगे।

भगवान के मुखारविन्द से ब्राह्मण वर्ण की स्थापना सम्बन्धी अपने कार्य का ऐसा भयकर परिणाम सुनकर चक्रवर्ती को बड़ा पश्चात्ताप हुआ।



९. भरत के सोलह स्वप्न

एक रात्रि को चक्रवर्ती भरत सुख-निद्रा में निमग्न थे। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्होंने कुछ स्वप्न देखे। अचानक उनकी निद्रा भग हो गई। उनके मन पर उन स्वप्नों का प्रभाव गहरा पड़ा। जागकर वे उन स्वप्नों के सम्बन्ध में विचार करने लगे। उन्हें यह निश्चय हो गया कि ये स्वप्न भविष्य के सूचक हैं। जब तक इस भरतखण्ड में तीर्थंकरों का पुण्य-विहार रहेगा, तब तक किसी अनिष्ट की संभावना नहीं है। किन्तु पचम काल में इन स्वप्नों का फल दृष्टिगोचर होगा। इन स्वप्नों का स्पष्ट फल राजा और प्रजा में विप्लव के रूप में दिखाई पड़ेगा। ये स्वप्न

अनिष्ट के सूचक है। मैं तो स्थूल दृष्टि से ही इन स्वप्नों के फल का मूल्यांकन कर सकता हूँ। अतः सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् ऋषभदेव से इन स्वप्नों का फल पूछना उचित होगा।

यह विचार कर वे प्रातः की क्रियाओं से निबट कर परिजनो-पुरजनो के साथ जहाँ भगवान् विराजमान थे, वहाँ पहुँचे। वहाँ त्रिलोकीनाथ भगवान् को देखकर उनके मन में आन्तरिक आल्हाद हुआ। उनके हृदय में भगवान् के प्रति निश्छल निष्काम भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगी। जिस समय वे भक्ति से गद्गद होकर भगवान् की वन्दना करने लगे, उनके परिणामों में इतनी विशुद्धि और निर्मलता आई कि तत्काल उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्होंने कोमल भावों से भगवान् के कल्याणकारी उपदेशामृत का पान किया। फिर दोनों हाथ जोड़कर वड़ी विनय और भक्तिपूर्वक बोले—

‘प्रभो! आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में मैंने सोलह सपने देखे हैं। मुझे लगता है, ये स्वप्न अनिष्ट फल देने वाले हैं। मैंने स्वप्न में (१) सिंह (२) सिंह का वच्चा (३) हाथी के भार को धारण करने वाला घोड़ा (४) वृक्ष, झाड़ियों के सूखे पत्ते खाने वाले वकरो (५) हाथी के स्कन्ध पर बैठा हुआ वन्दर (६) कौओं आदि के द्वारा उपद्रव किया हुआ उलूक (७) आनन्द करते हुए भूत (८) मध्य में सूखा और किनारों पर जल से भरा हुआ सरोवर (९) धूल धूसरित रत्नराशि (१०) लोगों से पूजित और नैवेद्यभक्षी कुत्ता (११) जवान बैल (१२) मण्डल से युक्त चन्द्रमा (१३) शोभारहित और मिलते हुए दो बैल (१४) मेघों से आच्छादित सूर्य (१५) छायाहीन सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तों का ढेर देखे हैं। भगवन्! इनका क्या फल होगा, आप दया करके मेरे सन्देह को दूर कीजिये।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया—‘वत्स! तूने जो स्वप्न देखे हैं, भविष्य में उनका फल अनिष्टकारक है। अब तू अपने स्वप्नों का फल सुन। प्रथम स्वप्न में तूने पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत के शिखर पर आरुढ़ तेईस सिंह देखे हैं। इस स्वप्न का फल यह होगा कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी। दूसरे स्वप्न में अकेले सिंह के वच्चे के पीछे हरिणों का झुण्ड चलते हुए देखा है। उसका फल यह है कि महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी हो जायेंगे। तीसरे स्वप्न में बड़े हाथी के उठाने योग्य बोझ के भार से दबा हुआ घोड़ा देखा है, उससे मालूम होता है कि पचम काल में साधु अपने मूल गुणों और उत्तर गुणों में असावधान हो जायेंगे। स्वप्न में सूखे पत्ते खाने वाले वकरो के समूह को देखने से प्रतीत होता है कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार छोड़कर दुराचारी बन जायेंगे। पाचवे स्वप्न में गजेन्द्र के कन्धे पर बानर के देखने का फल यह होगा कि प्राचीन क्षत्रिय कुल नष्ट हो जायेंगे और नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे। छठवे स्वप्न में कौओं के द्वारा उलूक को त्रास दिये जाने से मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य मतवाले साधुओं के पास जायेंगे। सातवे स्वप्न में नाचते हुए बहुत से भूतों को देखने से मालूम होता है कि प्रजाजन व्यन्तरो को सच्चे देव मानकर उनकी उपासना करने लगेंगे। आठवे स्वप्न में मध्य में शुष्क और किनारों पर जल से भरे हुए सरोवर के देखने का फल यह है कि धर्म आर्य खण्ड से हटकर प्रत्यन्तवासी-भलेच्छ खण्डों में ही रह जायगा। नौवें स्वप्न में धूल धूसरित रत्नराशि देखने से प्रगट होता है कि पचम काल में ऋद्धिधारी मुनि नहीं होंगे। दसवे स्वप्न में सत्कार किये हुए कुत्ते को नैवेद्य खाते देखने का फल यह होगा कि व्रतहीन ब्राह्मण गुणों पात्रों के समान सत्कार पायेंगे। ग्यारहवें स्वप्न में उच्च स्वर से शब्द करने वाले तरुण बैल का बिहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्था में ही मुनि पद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं। बारहवें स्वप्न में मण्डलयुक्त चन्द्रमा देखने का यह फल होगा कि पचम काल के मुनियों में अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान नहीं होगा। तेरहवें स्वप्न में परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों के देखने से पचम काल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले बिहार करने वाले नहीं होंगे। चौदहवें स्वप्न में मेघाच्छन्न सूर्य के देखने का फल यह होगा कि पचमकाल में केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। पन्द्रहवें स्वप्न में सूखा वृक्ष देखने से स्त्री-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो जायगा। और सोलहवें स्वप्न में जीर्ण पत्तों के देखने से महा औषधियों का रस नष्ट हो जायगा। ये स्वप्न दूर

२०. भरत की विदेह वृत्ति

भक्त वदन्ती है। मनुष्य सम्पन्न भी। उनकी दयागमनाओं को नष्टिजन करने वाली छियानवें हजार
ननिया भी। उनका शरीर तीरोण था। उनका वह मनुष्य मोक्ष में सर्वत्र अधिक था। अर्थात् नामाश्रित भोगों में
राजप्रासाद में निम्न शीघ्र विष्णु रूपों के उनके पास नहीं मायन थे। किन्तु विष्णु भोग-मायनों उलम्ब
वन्दनमाताएं तभी पर भी वे कर्मोःसृजिता भोगों को अनिरूपपूर्वक भोगने थे। उनके मन में उन भोगों में
मुक्त होने की भावना गहरा जाग्रत रहती थी। जगत्तराय मिलते ही वे आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लीन हो जाते
थे। उनके आत्मानुभव में जो रम साक्षात् था, जिस आनन्द को अनुभूति होती थी, वैसी अनुभूति भोगों में नहीं आती
थी। ये भोगों की गुप्ती का रोग समझने थे। जब यह पृष्ठभागा, सब तक योग्य मुग पनीत हुआ। किन्तु वह रोग
पापमूलक है, पाप परिणामी है, दुःख ही उनका सत्य है। इसी प्रकार वे भी सोचने थे—उन नन्दर शरीर के मुग के
लिये नन्दर नाशन जुटाने हैं, उनमें मुग भी नश्य मिटना है और फिर उसका परिणाम दुःख होता है। आत्मा
शाश्वत है। अतः उसका मुग भी शाश्वत है। वह मुग निरालम्ब दशा में ही मिल सकता है। शरीर का आलम्बन
करके शरीर का क्षणिक मुग तो मिल सकता है, आत्मा का मुग उसमें कैसे मिलेगा। आत्मा का मुग तो आत्मा के
आलम्बन में ही मिल सकेगा। जिन्होंने वह आत्म-मुग पूर्ण रूप में प्राप्त हो चुका है, उनके स्मरण में आत्मोन्मुखता की
प्रेरणा मिल सकती है।

यह विचार कर भरत नदी आत्मोन्मुक्तता का अभ्यास करते रहते थे। जब उनका उपयोग आत्मोन्मुख न होकर वहिर्मुख होता था तो तीर्थंकरों का स्मरण करने लगते थे। वे भगवान का स्मरण करने में अभावधान न हो जाय, इसके लिए उन्होंने कुछ ऐसे उपाय किए थे, जिससे उन्हें भगवान का ध्यान, स्मरण और वन्दन करने का स्मरण बना रहे। उन्होंने अपने महलों के द्वार पर, कक्षों और प्रकोष्ठों के द्वार पर रत्न निर्मित चौबीस घण्टियों की वन्दनमालाएँ बनवाई थी। जब वे उन द्वारों में से निकलते थे, तब उनके मुकुट से टकराकर वे घण्टियाँ शब्द करती थी। घण्टियों की आवाज सुनकर भरत की चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण हो आता था, जिससे वे उन्हें तत्काल परोक्ष नमस्कार करते थे।

नमस्कार करते थे।
हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने भरत की इन वन्दनमालाओं का वर्णन बड़े भक्तिपूरित शब्दों में किया है। वे लिखते हैं—
'जनविशति तीर्थेश्वन्दनाथे शिरःस्पृशम्।

‘चतुर्विंशति तीर्थेशवन्दनायै शिरःस्पृशम् ।

अचीकरवसी वेश्मद्वारे बन्दनमालिकाम् ॥१२॥

अर्थात् उन्होंने जीवीस तीर्थंकरों की वन्दना के लिए अपने महलों के द्वार पर सिर का स्पर्श करने वाली वन्दनमालायें बघवाई थी।

वन्दनमालायें बघवाई थी।
भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'आदिपुराण' में वन्दनमालाओं के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से प्रकाश डाला है।
उन्हीं के शब्दों में—

निर्मापितास्ततो घण्टा जिनविचैरलकृता ।
 परार्घ्यरत्ननिर्माणा. सम्पद्धा हेमरज्जुभिः ॥ ४१।८७
 लम्बिताश्च पुरद्वारि ताश्चतुर्विंशति प्रभा ।
 राजवेश्ममहाद्वार—गोपुरेऽप्यनुक्रमात् ॥ ४१।८८
 यदा किल विनिर्यति प्रविशत्यप्यय प्रभु ।
 तदा मौल्यप्रलम्भाभिरस्य स्यादहंता स्मृतिः ॥ ४१।८९
 स्मृत्वा ततोऽहं दर्शना भवत्या कृत्वाभिनन्दनाम् ।
 पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशश्च स पुण्यधी ॥ ४१।९०

अर्थात् उन्होंने वहमूल्य रत्नों से बने हुए, सुवर्ण रस्सियों से बन्धे हुए और जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं में सजे हुए बहुत से घण्टे बनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौबीस घण्टे बाहर के दरवाजे पर, राजभवन के महा द्वार पर और गोपुर दरवाजों पर अनुक्रम से टगवा दिये। जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजों से बाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते, तब मुकुट के अग्रभाग पर लगे हुए घण्टों में उन्हें चौबीस तीर्थकरों का स्मरण हो आता था। तदनन्तर स्मरण कर उन अरहन्त देव की प्रतिमाओं को वे नमस्कार करते थे। इस प्रकार पुण्य रूप बुद्धि को धारण करने वाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेव की पूजा करते थे।

राजा का अनुकरण प्रजा करती है। यदि राजा लोकप्रिय और धर्मात्मा हो तो प्रजा उसके आचार व्यवहार का अनुकरण बहुत जल्दी करने लगती है। सम्राट् धर्मात्मा और लोक प्रिय थे, वे प्रजा के हृदय-सम्राट् थे। प्रजा उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहती थी। प्रजा भी उस काल में धर्मात्मा थी। लोक में वन्दनमाला अतः उनका सम्राट् जो करता था, उसका अनुगमन प्रजा बहुत शीघ्र करने लगती थी।
 की परम्परा भरत ने अपने प्रासाद के तोरणों पर, द्वारों पर और गोपुरों पर अहन्त प्रतिमाओं से युक्त घण्टों की वन्दनमाला लटकाई थी। उनके इस कृत्य का अनुकरण प्रजा भी करने लगी।
 बिना किसी प्रयत्न के भरत के इस कार्य का जनता में प्रचार हो गया। प्रजा में एक दूसरे के अनुकरण द्वारा यह रिवाज और परम्परा बन गई और प्रत्येक घर के द्वार पर वन्दनमाला टगने लगी। आदिपुराणकार ने इस परम्परा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है। आप लिखते हैं—

‘रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिता ।
 दृष्ट्वाहं वन्दनाहेतोर्लोकोज्ज्यासीत्तदादर ॥ ४१।९३
 पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु ।
 यथाविभवमावद्धा घण्टास्ता सपरिच्छदा ॥ ४१।९४

अर्थात् निधियों के स्वामी भरत ने अहन्त देव की वन्दना के लिये जो घण्टा रत्नों के तोरणों की रचना में स्थापित किये थे, उन्हें देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे। उसी समय से नगरवासी लोगों ने भी अपने-अपने घर की तोरणमालाओं में अपने-अपने वैभव के अनुसार जिन-प्रतिमा आदि से युक्त घण्टे बांधने शुरू कर दिये।

भरत के इस कार्य का अनुकरण तत्कालीन समाज ने ही नहीं किया था, उस परम्परा का निर्वाह अब तक हो रहा है। यद्यपि उसका मूल रूप वह नहीं रहा। शायद वह भी नहीं सकता था। काल के विंगल अन्तराल में उद्देश्य तो तिरोहित होगया, इसलिए घण्टों का और वन्दनमालाओं का वह रूप भी नहीं रह पाया। किन्तु फिर भी वन्दनमाला अब भी हर शुभ कार्य में बांधी जाती है और समाज उसे मांगलिक चिह्न मानता है। इसी आशय को प्रगट करते हुए आदिपुराण कर्त्ता लिखते हैं—

आदिराजकृता सृष्टि प्रजास्तां बहुमेनिरे ।
 प्रत्यगार यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिका ॥ ४१।९५
 वन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिता ।
 ततो वन्दनमालाख्या प्राप्य रुढि गताः क्षितौ ॥ ४१।९६

अर्थात् उस समय प्रथम राजा भरत की वनाई हुई इस सृष्टि को प्रजा के लोगों ने बहुत माना था। यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घर पर वन्दनमालाये दिखाई देती है। (चूँकि भरतेश्वर ने वे मालाएँ अरहन्त देव की वन्दना के लिए वनवाई थी, इसलिये ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथ्वी पर प्रमिद्धि को प्राप्त हुई है)

वन्दनमाला के इस रहस्य को लोक में प्रचारित करने की आवश्यकता है। यदि लोग वन्दनमाला का मूल रूप और उद्देश्य समझ जायें तो वन्दनमाला पुनः अपने वास्तविक रूप को पा सकती है।

चक्रवर्ती भरत को अनेक राज-काज रहते थे। उन्हें सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर गामन करना पड़ता था। अनेको राजाओं के विद्रोह को दबाना पड़ता था। विदेशी नरेशों से सन्धि और मैत्री के कूटनैतिक दाव चलाने पड़ते

थे। प्रजा की बहुविध शिकायतों और समस्याओं को सुलझाना पड़ता था। फिर अन्तःपुर और भरत की मुनि-भक्ति परिवार की समस्याएँ नाना रूप लेकर आती और उन्हें हल करना होता था। जिनकी

छियानवे हजार रानियाँ हो, उनकी समस्याओं का क्या कोई अन्त हो सकता है। कोई रानी रुठ रही है, कोई सीतिया डाह से शिकायतें पेश कर रही है। माना कि सभी रानियों में परस्पर बहनापा था। किन्तु मानव-स्वभाव कहाँ चला जायगा। जलन और कुढ़न, पट्यन्त्र और अभाव अभियोग। इन सब टेढ़ी-मेढ़ी गालियाँ को पारकर सबकी सन्तुष्टि का राजमार्ग पाना क्या सरल होता है। किन्तु चक्रवर्ती कुशल तैराक थे। समस्याओं की भीषण प्रवाह वाली नदी में तैरना ही जैसे उनका नित्य का व्यापार था। कभी कभी कोई अडास नहीं। राजा हो या प्रजा, पत्नी हो या परिजन, राज्य हो या अन्तःपुर, चक्रवर्ती के व्यवहार से सभी सन्तुष्ट थे। सब यही समझते, मानो महाराज एकमात्र उन्हें ही चाहते हैं। महाराज की सर्वप्रियता का रहस्य उनके कोमल स्वभाव, उनका व्यवहार-चातुर्य और सर्वजन-समभाव में निहित था।

सब उन्हें चाहते थे, सभी उन पर अपनी जान न्योछावर करते थे, वे सबके थे। किन्तु भरत केवल अपने थे, वे सदा अपने में रहते थे। सारा लोक-व्यवहार करते थे, किन्तु वे इस सबसे जैसे पृथक् थे। ससार में रहते थे, किन्तु कभी उन्होंने अपने भीतर मसार नहीं बसाया। ससार के समुद्र में वे कमल बनकर रहते थे। वे आवश्यक धार्मिक कृत्यों के करने में कभी प्रमाद नहीं करते थे और लौकिक या धार्मिक कृत्य करते हुए भी आत्म-स्वरूप के चिन्तन की ओर सदा सावधान रहते थे। ऐसा था बहुधन्वी और व्यस्त चक्रवर्ती का अद्भुत जीवन।

भरत समय के बड़े पावन्द थे। उनके प्रत्येक कार्य का समय सुनिश्चित था। मुनि-चर्या के समय वे अन्य कार्य छोड़कर मुनिजनों को आहार-दान के लिये तैयार हो जाते। वे समस्त राजचिह्नों को उतार कर शुद्ध घोड़ी व दुपट्टा पहनते और एक रेशमी दुकूल कमर से बांध लेते। इस समय वे सम्राट् भरत नहीं, बल्कि पात्र-दान की प्रतीक्षा करने वाले सामान्य श्रावक थे। पात्र-दान के लिये द्वारपेक्षण करते समय उनके बाएँ हाथ में अष्ट द्रव्य और दाएँ हाथ में जल का कलश रहता था। माण्डलिक और महामाण्डलिक सदा जिनके ऊपर छत्र-चमर लिये ढोरते थे, वे ही भरत चक्रवर्ती विनय भाव से गुरुओं की सेवा के लिये प्रतीक्षारत हैं। वे अपने भृत्यों को समझा रहे हैं—जब मुनि महाराज पधारें, उस समय तुम लोगों को मेरे लिये महाराज आदि नहीं कहना चाहिये और न मेरे प्रति हाथ जोड़ कर खड़ा रहना चाहिये।

वे राजप्रासाद से बाहर राजद्वार के बगल में बने हुये चबूतरे के पास पहुँचें। उन्होंने अष्ट द्रव्य की थाली और जलपूर्ण कलश चबूतरे पर रखी हुई एक चौकी पर रख दिये और वे मुनियों की प्रतीक्षा करने लगे। वे उस समय अकेले ही खड़े थे। उनकी स्त्रियाँ तथा नरेश गण उनसे दूर खड़े हुये थे।

सामान्य जनो के केवल दो आँखें होती हैं, जिन्हें चर्म चक्षु कहा जाता है। किन्तु विवेकी जनो के एक आँख और होती है, जिसे ज्ञान चक्षु कहते हैं। भरत अपने दोनों चर्म चक्षुओं से मुनियों के मार्ग का अवलोकन कर रहे थे, किन्तु वे अपनी भीतर की आँखों से—ज्ञान चक्षुओं से अन्तरात्मा का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने भीतर अपनी आत्मा का साक्षात्कार हो रहा था। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि सरसों के दाने में जैसे समुद्र अटक गया हो, ऐसे ही यह त्रैलोक्यवेत्ता ज्ञानशरीरी आत्मा इस क्षुद्र शरीर में क्यों क
अटक रहा है ?

सब उन्हें देख रहे थे, किन्तु वे किसी को नहीं देख रहे थे। वे तो सबसे निर्लिप्त केवल अपने आपको देख रहे थे। उनके मन में यकायक एक भाव आया और मानो वही सब विचारों को ठेल कर जम गया—मेरे पास अपार सम्पत्ति है, किन्तु उसकी सार्थकता तभी है, जब कोई निर्ग्रन्थ योगी मेरे हाथ से आहार ग्रहण कर ले तब यह सम्पत्ति भी सार्थक हो जाय और मैं भी धन्य हो जाऊँ।

नगर में उस दिन अनेक मुनिराज चर्या के लिये पधारे, किन्तु मार्ग में अन्य श्रावकों ने उनका प्रतिग्रहण कर लिया। अतः राजमहल तक कोई मुनिराज नहीं आ पाये। इसलिए भरत चिन्तामग्न हो गये। वे बार-बार विचार करने लगे—क्या आज कोई पर्व तिथि है? क्या जगल से आते समय हाथी घोड़ों से मार्ग अवरुद्ध तो नहीं हो गया? अथवा दुष्ट जनो ने कोई दुर्व्यवहार तो नहीं किया? आज कोई मुनिराज क्यों नहीं पधारे यहाँ? अथवा अतिथि को दान देने का क्या मेरा सौभाग्य नहीं है। इस विचार के आते ही उनके अन्तर में एक कसक होने लगी।

तभी उन्हें आकाश में गतिशील प्रभा-पुज दिखायी पड़ा। भरत आश्चर्यचकित होकर उधर देखने लगे। धीरे-धीरे उस प्रभा-पुज ने आकार ग्रहण करना प्रारम्भ किया। फिर वह पुज दो भागों में विभक्त हो गया। जब तक भरत किसी निश्चय पट्ट पहुँचे, दो तेज-पुज आकाश से नीचे आते हुये भरत के समीप उतरे। वे दो चारण ऋद्धिधारी मुनि थे। भरत उन्हें देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञानी दो योगिराज आज पधारे हैं, यह सोचकर भरत का रोम-रोम हर्ष से नृत्य करने लगा। उन्होंने पूजा की थाली और जलपूर्ण कलश उठाया और मुनिराजों के सामने जाकर 'भो मुनिवर्य'। अत्र तिष्ठ तिष्ठ' इस प्रकार शब्दोच्चारण करके मुनियों को ठहराया, फिर अष्ट द्रव्यों से उन्हें दर्शनाञ्जलि देते हुये भाव शुद्धि से जल-धारा दी। तदनन्तर उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर गुरु-चरणों में साष्टांग नमस्कार किया। फिर खड़े होकर भरत ने कहा—मन शुद्धि, वचन शुद्धि काय शुद्धि आहार जल शुद्ध है, प्रभु मेरे घर पधारिये। इस प्रकार कहने पर मुनिराज भरत के पीछे पीछे आहार मुद्रा में ईर्यापथपूर्वक भूमि को देखते हुए धीरे धीरे चले। भरत मन में सोचते जा रहे थे कि इन कुटिल और लम्बे मार्ग पर चलने से इन योगियों को मेरे कारण कितना कष्ट हो रहा है।

भरत मुनियों को लेकर अपने महल में पहुँचे। वहाँ सब रानियाँ भी आ गयीं। वे जलपूर्ण कलश, दर्पण और आरती लिये हुयी थीं। उन्होंने मुनियों की आरती उतार कर प्रणाम किया। वे सब मिलकर मंगल गान करने लगीं। भरत ने मुनियों को उच्चासन पर बैठाया, उनके चरणों का प्रक्षालन करके अष्ट द्रव्यों से पूजन की। फिर नवधा भक्तिपूर्वक उनको आहार दिया। रानियाँ भरत को भक्ष्य पदार्थ देती जाती थी और भरत मुनियों के हाथों में एक एक आस रखते जाते थे। उन ऋद्धिधारी मुनियों के हाथों में जाकर नीरस भोजन भी सरस बन जाता था। किन्तु आत्म-विहारी मुनियों की आसक्ति आहार में नहीं थी। राजा भरत ने अपनी भक्ति से मुनियों को तृप्त किया और सुभुक्ति से उनकी जठराग्नि को तृप्त किया। तृप्त होने पर मुनियों ने नीचे बैठ कर मुख-शुद्धिपूर्वक हाथ-शुद्धि की और कुछ देर ध्यान किया। दोनों ने ध्यान पूर्ण होने पर भरत को आशीर्वाद दिया।

तभी राजमहल के प्रांगण में रत्न और स्वर्ण की वर्षा हुई। आकाश में देवों ने वाद्य-ध्वनि के साथ जय-जयकार किया। फिर मुनिराज वहाँ से विहार कर गये। भरत उनके कमण्डलु लिये कुछ दूर तक मुनियों को पहुँचाने गये। उनके बार-बार कहने पर इच्छा न रहते हुए भी भरत वापिस आये और तब उन्होंने भोजन किया। प्रांगण में जो रत्न और स्वर्ण राशि पड़ी थी, वह निर्धनो में बटवा दी।

सम्राट भरत के जीवन का यह दैनिक कार्यक्रम था।

महाराज भरत की सभी रानियाँ यौवनवती थी, मदवती थी, रसवती थी। उनके अंग प्रत्यङ्गों का लावण्य अद्भुत था, माधुर्य नित नवीन था और सौन्दर्य अनिन्द्य था। उनके गदराये यौवन से से रस भोग में भी विराग-चूता था। रतिको लज्जित करने वाली उनकी सुषमा थी। उन मोहनियों का मोहन-पाश अच्छेद्य वृत्ति था। देवांगनायें और न -कन्य- हो जायें, ऐसा उनका रूप था।

किन्तु भरत रूप और

। वे आत्मचेता थे, आत्मजयी

थे। वे एक साथ सबका भोग भी करते थे, किन्तु भोग के समय भी उनकी भावना योग की रहती थी। वे भोग देह का करते और उनको रस आता था देहातीत। इसका कारण था। भोग करते हुए भी वे आत्मानन्द को भूलते नहीं थे। कभी-कभी तो भोग करते समय जब उन्हें आत्म-चिन्तन की सुधि आ जाती थी तो वे भोग को भूलकर आत्मा में लीन हो जाते थे। एक दिन पद्महिषी सुभद्रा के महलो में चक्रवर्ती पधारें। सुभद्रा ने उनकी अभ्यर्थना की। रात्रि-शयन भी वही हुआ। भुवनमोहिनी अनिद्यसुन्दरी सुभद्रा ने अपने पति को मुक्त भाव से रस-दान किया। किन्तु जब रसानुभूति अपनी चरम सीमा पर पहुँची, भरत के अन्तर्मन के किवाड़ खुल गये। वे चिन्तन में डूब गये— 'अनन्त काल बीत गया शरीर और इन्द्रियो की तृप्ति का प्रयत्न करते करते, किन्तु क्या कभी ये तृप्त हो सकी। नित नवीन शरीर मिले और इन्द्रिय-भोगों में ही सारा जीवन गला दिया। जीवन भर अतृप्ति से जूझता रहा किन्तु भोगों की प्यास कभी बुझी नहीं। कभी आत्म-रस का स्वाद नहीं लिया। यदि एक बार भी आत्मानुभव हो जाता तो अनन्त जीवनो की अतृप्ति एक क्षण भर में मिट जाती।' यो चिन्तन करते करते वे आत्म-रस का पान करने में वेसुध हो गये। शरीर निश्चेष्ट हो गया। पद्महिषी इस स्थिति का कारण न समझ सकी।

कैसी अकल्पनीय परिणति थी भरत की। इसीलिए तो घर में रहते हुए भी भरत वैरागी कहलाते हैं। वस्तुतः वे राजर्षि थे, विद्वेह थे। श्रीमद्भागवत में उन्हें भगवत्परायण माना है और उन्हें जब भरत बताया है। जब अर्थात् सासारिक भोगों के प्रति अनासक्त।

उनके पास भोग और वैभव का विशाल स्तूप था। यह जितना ऊँचा था, उससे भी ऊँचा इनके प्रति उनका विराग था। राग के सभी साधन उन्हें उपलब्ध थे, उनका भोग भी खूब किया उन्होंने किन्तु भावना सदा इनसे मुक्ति की रही। इसलिए राग हारा और विराग की सदा जय हुई। अद्भुत व्यक्तित्व था उनका। अनुपम भी था। ऐसा व्यक्तित्व ससार में दूसरा कोई न हुआ, न होगा।



२१. भरत का निष्पक्ष न्याय

भरत चक्रवर्ती सम्राट् थे। जब वे राज-सिंहासन पर बैठते थे, उस समय वे केवल राजा थे। उनके समक्ष अनेक अभियोग उपस्थित होते थे। उन्हें सुनकर वे उनका उचित न्याय करते थे। उनके न्याय में कभी कोई सम्बन्ध आड़े नहीं आता था, कोई सम्बन्ध उनके न्याय को प्रभावित नहीं कर सकता था। भले ही अभियोग उनके युवराज के ही विरुद्ध क्यों न हो, किन्तु न्याय की तुला पर सामान्य जन और युवराज में कोई अन्तर नहीं आता था। एक बार अभियोगकर्त्ता थे स्वयं युवराज अर्ककीर्ति। अभियोग था चक्रवर्ती के प्रमुख सेनापति जयकुमार के विरुद्ध। राज दरबार स्तब्ध था कि देखें, न्याय किसके पक्ष में जाता है। अभियोग उपस्थित किया गया, सुनवाई हुई। दोनों पक्षों ने अपना पक्ष उपस्थित किया। सम्राट् ने पाया—दोष युवराज का है। उन्होंने मर्यादा का भंग किया है। युवराज दोषी घोषित हुए और सबके समक्ष सम्राट् ने उनकी भर्त्सना की। न्याय की यह कहानी जितनी अद्भुत है, उतनी रोचक भी है। सुनिये उसे।

काशी नरेश अकम्पन की स्त्री सुप्रभा थी। उन दोनों के सुलोचना नाम की एक पुत्री थी जो सुलक्षणा थी और सर्वगुण-सम्पन्न थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। तब राजा ने मन्त्रियों से परामर्श करके उसके स्वयम्बर का निश्चय किया। उन्होंने दूतों द्वारा राजाओं को सुलोचना स्वयम्बर इसकी सूचना दी। इसके लिये नगर के बाहर सर्वतोभद्र नामक विवाह-मण्डप की रचना की गई। निश्चित तिथि को अनेक देशों के राजा और राजकुमार अपनी सेनाओं के साथ वहाँ

आये। राजा अकपन ने उनकी अभ्यर्थना की, उनके निवास आदि की समुचित व्यवस्था की।

इस स्वयंवर में सम्मिलित होने अथवा भाग लेने के लिये चक्रवर्ती भरत के पुत्र युवराज अर्ककीर्ति, चक्रवर्ती के सेनापति-रत्न राजकुमार जयकुमार, नमि-विनमि के पुत्र सुनमि और सुविनमि आदि अनेक भूमि-गोचरी और विद्याधर राजा आये। शुभ लग्न के समय स्वयंम्बर मण्डप में सभी समागत राजा और राजकुमार अपने योग्य आसनो पर बैठ गए। कुमारी सुलोचना को भी स्नान कराकर और वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके उसकी माता सुप्रभा ने तैयार किया। सुलोचना सर्वप्रथम जितेन्द्रदेव के मन्दिर में गई। वहाँ उसने भक्तिपूर्वक पूजन किया। पूजन समाप्त होने पर उसके पिता ने आशीर्वाद के रूप में शेषाक्षत उसके सिर पर रखे। तब सुलोचना महेन्द्रदत्त कचुकी के साथ विवाह-मण्डप में प्रविष्ट हुई। वह जब वहाँ पहुँची तो सभी राजा बड़ी उत्सुकता से उसे देखने लगे। उसकी रूपछटा देखकर सब विमुग्ध होकर सोचने लगे—यह देवकन्या अवतरित हुई है अथवा स्वयं शची ही विनोद करने यहाँ पधारी है। ऐसा मोहक रूप तो आज तक देखने में नहीं आया।

सभी उद्ग्रीव होकर बड़ी उत्कण्ठा से मन में कामना करने लगे—काश! सौन्दर्य को यह खान मुझे प्राप्त हो जाय तो मानव-जन्म सफल हो जाय। सभी आशान्वित थे, सभी को अपने पुण्य पर विश्वास था। कचुकी क्रम क्रम से राजकुमार प्रत्याशियों का परिचय देता जाता था। कुमारी सुलोचना एक दृष्टिपात करके आगे बढ़ जाती। वह जिस ओर जाती, वही राजकुमार आशा से मधुर सपने सजोने लगता, किन्तु जब वह आगे बढ़ जाती तो वे दिवा-स्वप्न एक आघात से टूट जाते।

जब सुलोचना अर्ककीर्ति आदि राजकुमारों को छोड़कर जयकुमार के सामने पहुँची तो कचुकी ने जयकुमार के गुण वर्णन करना प्रारम्भ किया—यह हस्तिनापुर नरेश सोमप्रभ का यशस्वी पुत्र है। इसका रूप कामदेव को लज्जित करने वाला है। इसने उत्तर भरतक्षेत्र में मेघकुमार नामक देवों को जीतकर वादलो की गर्जना को जीतने वाला सिंहनाद किया था। उस समय निधियों के स्वामी महाराज भरत ने हर्षित होकर अपनी भुजाओं पर धारण किया जाने वाला वीरपट्ट इसके बाँधा था तथा प्रेम से इसका नाम मेघेश्वर रक्खा था।

कचुकी जब यह विरुदावली बोल रहा था, उस समय वस्तुतः सुलोचना वह सब सुन नहीं रही थी। वह तो हृदय से जयकुमार के लिये आत्म-समर्पण कर चुकी थी और आसक्त भाव से उसे निहार रही थी। उधर जयकुमार भी मुग्ध भाव से उसे देख रहा था। दोनों ही एक दूसरे में खोये हुए थे। दोनों के शरीर कटकित हो रहे थे। जयकुमार के सामने खड़ी हुई सुलोचना ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो कामदेव के सामने विह्वल रति खड़ी हो। उसने कचुकी के हाथों में से रत्नमाला लेकर जयकुमार के गले में डाल दी। जब सुलोचना ने दोनों बाहे उठाकर वरमाला जयकुमार के गले में डाली, उस समय ऐसा लगता था, मानो विह्वले हुए अपने पति कामदेव को पाकर अधीर रति ने दोनों भुजायें पसार कर आलिंगन किया हो। शेष राजकुमारों की मुख की कान्ति उचट कर मानो जयकुमार के मुखकमल पर आ जमी।

तभी मगल वाद्यों की मधुर ध्वनि से सारा मण्डप और वन प्रान्त एकवारगी ही प्रतिध्वनित हो उठा। नाथ वश के अधिपति अकपन आगे आये और अपनी पुत्री को साथ में लेकर और जयकुमार को आगे करके नगर की ओर चले। साथ में बन्धु-बान्धव और अनेक राजा थे। इस युग का यह प्रथम स्वयंम्बर था और जयकुमार इस मुहिम का प्रथक विजेता था।

किन्तु इस हर्षोत्सव में असूयारसिकों की भी कमी नहीं थी। युवराज अर्ककीर्ति का एक दुष्ट सेवक था। नाम था दुर्मर्षण। उसने जयकुमार की इस उपलब्धि को सहज भाव से ग्रहण नहीं किया। वह द्वेष से दग्ध होकर अपने स्वामी के पास पहुँचा और बोला—‘देव! यह घोर अन्याय है। अभिमानी अकपन ने युवराज का अन्याय आपको यहाँ बुलाकर आपका घोर अपमान किया है। अकपन की तो जयकुमार के गले में वरमाला डलवाने की पहले से ही योजना थी। उसे तो केवल आपका अपमान करना था। कहाँ तो आप षट्खण्ड भरत क्षेत्र के भावी अधिपति और कहाँ आपका अकिंचन सेवक जयकुमार। यदि आपने इसे सहन कर लिया तो आपका आतंक टूटने पर से उठ जायगा और जयकुमार महाराज भरत के बाद में इस पृथ्वी का

भोग करेगा। न्याय से ससार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु के भोग करने का अधिकार महामान्य चक्रवर्ती महाराज का है या फिर आपका। आपके रहते ससार के सर्वश्रेष्ठ कन्यारत्न का भोग आपका एक सेवक करे, इसमें बड़ी अनीति ससार में कोई दूसरी हो नहीं सकती।

सेवक की यह सलाह सुनकर युवराज अर्ककीर्ति को भी इस घटनाचक्र में अपना अपमान और अनीति दिखाई देने लगी। वह क्रोध से लाल आगें किये और नथुने फुलाता हुआ गरज उठा—जिस मूर्ख ने मेरा अपमान किया है, उसने बिना जाने ही अपने काल को निमन्त्रण दिया है। इन अकपन और जयकुमार ने राज्यद्रोह किया है, उसका प्रतिकार आज युद्ध में ही होगा।

उसके क्रोध की छाया में स्वयम्बर में निराश हुए अनेक राजा भी एकत्रित हो गये।

उस समय अर्ककीर्ति को मन्त्री ने बहुत समझाया—पहले आपके पितामह भगवान् ऋषभदेव ने राज्य शासन करके एक मर्यादा रीति की थी। उसके पश्चात् आपके पिता महाराज भरत ने उस मर्यादा को दृढतापूर्वक रक्षा की। उसके पश्चात् आप राज्य-शासन का भार सभालेंगे। यदि आप ही उस मर्यादा का उल्लंघन करेंगे तो पृथ्वी मर्यादाहीन हो जायगी आप न्याय के रक्षक हैं। स्वयम्बर में वर का निर्वाचन कन्या को उच्छा पर निर्भर है। उसने जिसे भी चुना, उसके प्रति अन्य लोगों को ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, यही न्यायमार्ग है। यदि कोई इस मार्ग का उल्लंघन करता है तो आपको तो न्याय-मार्ग की रक्षा करनी चाहिए। आपकी स्वयं उस न्याय-मार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। फिर ये महाराज अकपन सब क्षत्रियों में पूज्य हैं, महाराज भरत तो इनका सम्मान अपने पिता के समान करते हैं। और यह सोमवश भी नाश वश के समान ही है। आपके वश ने धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति की तो सोमवश को भी दान-तीर्थ की प्रवृत्ति करने का गौरव प्राप्त है। और फिर महाराज भरत को दिग्विजय के अवसर पर ससार ने जयकुमार की वीरता देखी ही है। यह तो तुम्हारे लिए सहायक ही सिद्ध होगा। आपकी यह अनीति सुनकर चक्रवर्ती भी आप पर असन्तुष्ट होंगे। एक सुलोचना हो तो ससार में कन्या-रत्न नहीं है। और भी कन्यारत्न है। आप चाहें तो मैं अनेक कन्या-रत्न आपके लिये ला दूंगा।

किन्तु दुराग्रह और क्रोध में ग्रस्त अर्ककीर्ति ने किसी की एक नहीं सुनी और मेनापति को बुलाकर युद्ध की भेरी बजा दी। भेरी का शब्द सुनते ही रथ, हाथी और अश्वसेना तथा पदाति सेना के असंख्य सैनिक वहाँ एकत्रित होने लगे। अर्ककीर्ति गजावृद्ध होकर अनेक राजाओं और मेना से घिरा हुआ युद्ध के लिए चल दिया।

महाराज अकपन ने ज्यों ही यह समाचार सुना, वे सहसा इस अतर्क्य और असंभव बात पर विश्वास नहीं कर सके। इन्होंने मन्त्रियों तथा जयकुमार आदि से परामर्श करके एक चतुर दूत अर्ककीर्ति के पास दौड़ाया।

उसने जाकर युवराज को समझाया किन्तु वह असफल होकर लौट आया। जयकुमार ने युवराज की पराजय चिन्तित अकपन से कहा—आप निश्चिन्त रहें और यही रहकर सुलोचना की रक्षा करें। मैं

अभी इस अनीतिमार्गी को बाँध कर लाता हूँ। फिर उन्होंने अपनी मेघ घोषा भेरी बजाई। भेरी की आवाज सुनते ही उनके असंख्य सैनिक और उनके पक्ष के अनेक राजा लोग शस्त्रसज्जित होकर एकत्रित हो गए। उन्होंने भी शत्रु सेना की ओर कूच कर दिया। इधर महाराज अकपन भी अपने पुत्रों और सैनिकों को साथ लेकर चल पड़े। सोमवश और नाथ वश के आश्रित राजाओं के अतिरिक्त पाँच राजा भी अपनी सेना के साथ जयकुमार से आ मिले। विद्याधर राजाओं में से आधे राजा भी अन्याय का पक्ष छोड़कर इस सेना में आकर मिल गए।

दोनों ओर से मकर व्यूह, गरुड व्यूह आदि व्यूहों की रचना की गई। युद्ध के बाजे तुमुल घोष के साथ बजने लगे। युद्ध प्रारम्भ हो गया। बाणों की वर्षा से आकाश ढक गया। मनुष्य, हाथी, घोड़े कट-कटकर भूमि पर गिरने लगे। सारी रणभूमि में जयकुमार ही दिखाई पड़ रहा था। उसके बाणों ने अर्ककीर्ति की सेना को निष्पेष्ट बना दिया। तब अर्ककीर्ति ने अपना हाथी आगे बढ़ाया। जयकुमार भी विजयार्ध हाथी पर आरुढ़ होकर आगे बढ़ा। तभी उसका एक मित्र देव आया और उसे नागपाश तथा अर्धचन्द्र नामक बाण दिया जो अमोघ था। जयकुमार ने अपने बज्रकाण्ड धनुष पर वह बाण चढ़ाया और सन्धान कर दिया। उस एक ही बाण ने अर्ककीर्ति और

उसके आठो रक्षक विद्याधरो के रथ, सारथी तथा धनुष-वाण नष्ट कर दिये। अर्ककीर्ति निरुपाय हो गया। जय-कुमार ने क्षण भर का विलम्ब किये बिना अर्ककीर्ति को पकड़ लिया और नागपाश से सम्पूर्ण विद्याधर राजाओं को बाध लिया।

युद्ध समाप्त हो गया। जयकुमार ने अर्ककीर्ति और वधे हुए राजाओं को महाराज अकपन के सुपुर्द कर दिया। हताहतों की समुचित व्यवस्था करके सबने वाराणसी नगरी में प्रवेश किया। वे सर्वप्रथम नित्यमनोहर नामक चैत्यालय में गये और जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन किये, जिनकी अनुकम्पा से अनिष्ट की शान्ति हुई। फिर अपनी महारानी सुप्रभा के निकट कायोत्सर्ग से खड़ी हुई पुत्री सुलोचना के पास गये। उसने सकट निवारण तक चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया था। महाराज अकपन ने उसे विजय का हर्ष-समाचार सुनाया तथा कहा— 'बेटी ! तेरे पुण्ययोग से राव विघ्न टल गए हैं। अब तुम अपने महलो में जाओ।' यह कहकर पुत्री को उसकी माता तथा भाइयों के साथ राजभवन में भेज दिया।

महाराज अकपन ने मन्त्रियों से परामर्श किया और फिर विद्याधर राजाओं का सत्कार करके छोड़ दिया। फिर वे कुमार अर्ककीर्ति के पास पहुँचे और उनको नाना प्रकार के मीठे वचनों से प्रसन्न किया। उन्होंने जयकुमार को भी बुलाकर दोनों में सन्धि करादी। फिर उन्होंने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ बड़े वैभव के साथ कर दिया और बड़े मान-सन्मान के साथ अर्ककीर्ति तथा अन्य राजाओं को विदा कर दिया।

तब उपर्युक्त देव ने जयकुमार के साथ सुलोचना का विवाह कर दिया और उन्हें नाना प्रकार के अनर्घ्य उपहार दिये।

महाराज अकपन बड़े अनुभवी और दूर-दृष्टि थे। उन्होंने परामर्श करके एक चतुर दूत को बहुमूल्य रत्न आदि की भेंट देकर चक्रवर्ती के पास भेजा। उसने चक्रवर्ती के दरबार में जाकर उनके चरणों में भेंट चढ़ाई, साष्टांग प्रणाम किया और महाराज अकपन एवं जयकुमार की ओर से लघुता प्रगट करते हुए इस चक्रवर्ती का न्याय

घटना का सारा दोष अपने ऊपर ले लिया और अपराध का दण्ड देने की प्रार्थना की। चक्रवर्ती ने दूत को बीच में ही रोककर उन दोनों की प्रशंसा की। उन्होंने कहा— महाराज अकपन तो मेरे पूज्य हैं। मैं यदि कोई अन्याय कहूँ तो उन्हें मुझे रोकने का अधिकार है। और जयकुमार ! उसी की बदौलत मेरा यह चक्रवर्ती-पद है। अपराध अर्ककीर्ति का है। उसने मेरी कीर्ति में कलक लगा दिया है। मैं उसे अवश्य दण्ड दूँगा।

जयकुमार कुछ दिनों तक वाराणसी में ही रहा और सुलोचना के साथ उसने यथेच्छ भोग किया। एक दिन अपने मन्त्री का पत्र पाकर और उसका गूढ़ अर्थ समझकर अपने श्वसुर महाराज अकपन से जाने की अनुमति माँगी। महाराज ने विचार कर 'तथास्तु' कहा। और अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंट देकर दोनों को सम्मानपूर्वक विदा किया। जयकुमार भी सुलोचना को लेकर अपने भाइयों और सेना के साथ वहाँ से चल दिया। मार्ग में एक स्थान पर सेना का पड़ाव पड़ा। वहाँ समझा-बुझाकर सुलोचना को छोड़ा और अपने भाइयों को उसकी रक्षा में नियुक्त कर स्वयं अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। अयोध्या पहुँचने पर अनेक मान्य पुरुषों ने उसका स्वागत किया। वह युवराज अर्ककीर्ति से बड़े प्रेम से मिला। वह सीधा राजदरबार में पहुँचा और महाराज भरत के समक्ष जाकर अष्टांग प्रणिपात किया। महाराज भरत बोले—क्यों जयकुमार तुम बहू को क्यों नहीं लाये ? हम तो उसे देखने के लिये उत्सुक थे। तुमने हमें अपने विवाह में भी नहीं बुलाया। महाराज अकपन ने भी हमें भुलाकर बन्धु-बान्धवों से हमें अलग कर दिया।

इस प्रकार कहकर उन्होंने जयकुमार का समुचित आदर-सत्कार किया और बहू के लिये बहुमूल्य वस्त्रालंकार प्रदान करके उसे विदा किया। जयकुमार भी हाथी पर आरूढ़ होकर अपनी प्रिया से मिलने चल दिया।

चक्रवर्ती ने युवराज को राज-सभा में ही बुलाकर उसके कृत्य की समुचित भर्त्सना की।

सेनापति जयकुमार हाथी पर आरुढ़ होकर अपने शिविर की ओर जा रहे थे। भूल से उसने हाथी को गहरे जल में उतार दिया। हाथी अपनी सूँड ऊपर उठाकर गंगा में आगे बढ़ने लगा। सूँड का केवल अग्रभाग पानी में नहीं डूब पाया था, शेष गारा शरीर पानी में डूबा हुआ था। वह अचानक एक गड़ढे में पहुँच गया। तभी एक मगर ने हाथी को जकड़ लिया। तट पर खड़े हुए लोगों ने हाथी को डूबते हुए देखा तो सभी घबड़ा उठे। मुलोचना के भाई हेमाङ्गद तथा अन्य अनेक व्यक्ति गंगा में कूद पड़े। मुलोचना ने अपने पति पर आये हुए उग्र भयानक मकट को देखा तो उसने उपसर्ग दूर होने तक आहार-जन का त्याग करके जिनेन्द्र प्रभु का स्मरण करना प्रारम्भ कर दिया और साहस करके अपनी सखियों के साथ गंगा में कूद पड़ी। तभी गंगा देवी का आसन कम्पित हुआ। वह गोघ्न वहाँ उपस्थित हुई और मगर रूप धारिणी कातिका देवी को डाँटकर उपसर्ग दूर किया। वह सबको किनारे पर लाई। वहाँ तट पर उसने एक भव्य भवन का निर्माण किया तथा एक मणिजटित सिंहासन पर मुलोचना को बैठाकर उसकी पूजा की। पूर्व जन्म में विन्ध्यश्री नामक एक राजकुमारी मुलोचना की मंत्री थी। एक दिन उसे साँप ने काट लिया। मरने समय मुलोचना ने उसे णमोकार मन्त्र मुनाया, जिसके प्रभाव से वह मरकर गंगा नदी की अधिष्ठात्री देवी हुई।

जयकुमार मुलोचना के साथ अपने बन्धु-बान्धवों और सैनिकों को लेकर हस्तिनापुर पहुँचा। वहाँ जनता ने अपने महाराज को बहुत दिनों के पश्चात् अपने बीच पाकर उनका हार्दिक स्वागत किया। महाराज जयकुमार ने एक दिन शुभ दिन शुभ लग्न में उत्सव किया। उसमें मुलोचना को पट्टमहिषी का पट्टवन्ध बाँधकर सम्मानित किया तथा हेमाङ्गद आदि को बहुमूल्य उपहार भेंट कर विदा किया। दीक्षा ग्रहण तथा अपने भाइयों तथा अन्य लोगों को भी नाना प्रकार के उपहार प्रदान कर सन्तुष्ट किया।

जयकुमार और मुलोचना में कई भवों से प्रीति चली आ रही थी और कई भवों से पति-पत्नी के रूप में उत्पन्न होते आ रहे थे। एक दिन एक विद्याधर दम्पति आकाश मार्ग से जा रहा था। उसे देखते ही जयकुमार को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और वह 'हा प्रभावती' कहकर मूर्छित हो गया। इतने में कवूतरी का एक जोड़ा देखकर मुलोचना भी 'हा रतिवर' कहकर सज्जाहीन हो गई। दासियों के शीतलोपचार से दोनों की मूर्छा भग हुई। तभी उन दोनों को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। जयकुमार के पूछने पर मुलोचना ने अपने मूर्च्छित होने का कारण बताते हुए कवूतर-कवूतरी के पर्याय की कथा सुनाई। फिर प्रभावती और हिरण्यवर्मा के भव की कथा सुनाई।

जयकुमार और मुलोचना में परस्पर में बड़ा प्रेम था। बहुत समय तक इन दोनों ने सांसारिक सुखों का भोग किया। एक दिन जयकुमार भगवान् वृषभदेव के दर्शनो को गया और उनके उपदेश को सुनकर उसके मन में ससार से वैराग्य हो गया। उसने आकर अपने पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक करके अपने भाइयों और चक्रवर्ती के पुत्रों के साथ भगवान् के समीप दीक्षा धारण कर ली। वह चार ज्ञान का धारण, सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता और सात ऋद्धियों का स्वामी बना और भगवान् का इकहत्तरवाँ गणधर बना। मुलोचना ने भी ब्राह्मी गणिनी के पास दीक्षा ले ली और तप करके अन्त में अच्युत स्वर्ग में अहमिन्द्र हुई।



२२. भरत का निर्वाण

एक दिन चक्रवर्ती भरत अपने कक्ष में खड़े हुए दर्पण में मुख देख रहे थे। तभी उन्हें अपने केशों में एक सफेद बाल दीखा। उसे देखते ही उनके मन में शरीर और भोगों की असारता को देखकर निर्वेद भर गया। उन्होंने तत्काल अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति का राज्याभिषेक किया और वन में जाकर सकल समय धारण कर लिया। उन्हें उसी समय मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रगट हो गया।

पहले चक्रवर्ती भरत राजाओं द्वारा पूजित थे। अब भगवान् भरत इन्द्रो और देवों द्वारा पूजित हो गये। भगवान् भरत ने चिरकाल तक विहार किया और अपने उपदेशों से असंख्य प्राणियों का कल्याण किया। आयु का अन्त निकट जानकर वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे और वहाँ योग निरोध करके जन्म-जरा-मरण से मदा के लिए मुक्त हो गये। वे सिद्ध परमात्मा हो गये।

भगवान् के वृषभसेन आदि गणधर, भगवान् के पुत्र तथा अन्य अनेक मुनि भी कर्मों का उच्छेद करके मुक्त हो गये।



२३. भरत और भारत

हमारा देश भारतवर्ष कहलाता है। इससे पहले इस देश का नाम महाराज नाभिराज के नाम पर अज-नाभवर्ष कहलाता था। कहीं कहीं इसके स्थान पर अजनाभ खण्ड भी आता है। जब ऋषभदेव भारत का प्राचीन नाम के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने इस देश के छह खण्डों को जीतकर चक्रवर्ती पद धारण किया, तब उन्होंने अपने नाम पर इसका नाम भारतवर्ष कर दिया।

जैन साहित्य और भारत—जैन साहित्य में इस सम्बन्ध में असदिग्ध शब्दों में उल्लेख मिलते हैं। भगव-ज्जिनसेनाचार्य ने 'आदिपुराण' पर्व १५ श्लोक १५६ में बताया है।

तन्नाम्ना भारत वर्षमितिहासीज्जनास्पदम् ।

हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्र चक्रभूतामिदम् ॥

अर्थात् इतिहास के जानने वालों का कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवान् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त का चक्रवर्तियों का क्षेत्र भरत के नाम के कारण भारतवर्ष रूप से प्रसिद्ध हुआ। (यही श्लोक पुरुदेव चम्पू ६।३२ में भी इसी प्रकार मिलता है)।

इसी प्रकार एक स्थान पर उक्त आचार्य कहते हैं—

यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खण्ड भूषा मही ॥३७।२०३॥

अर्थात् जिसके नाम से षट्खण्डों से विभूषित पृथ्वी भरत भूमि नाम को प्राप्त हुई।

और भी

ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरत सुनुमग्रिमम् ।

भगवान् भारत वर्षं तत्सनाथ व्यधादिदम् ॥१७।७६॥

अर्थात् भगवान् ऋषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके यह घोषणा की कि भरत से शासित देश भारतवर्ष कहलाये।

इसी तथ्य को पद्मपुराण के कर्त्ता आचार्य रविषेण ने कई स्थलों पर स्वीकार किया है। यथा—

ऋषभेण यशोवत्या जातो भरतकीर्तितः ।

यस्य नाम्ना गतं त्पातिमेतद्धारयं जगत्त्रये ॥२०॥१२४॥

चक्रवर्तिश्रियं तावत्प्राप्तो भर्त सूपतिः ।

यस्य क्षेत्रमिदं नाम्ना जगत्प्रगटतां गतम् ॥४१७९॥

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव की यशस्वती रानी से भर्त नामक प्रथम चक्रवर्ती हुआ । उस चक्रवर्ती के नाम से ही यह क्षेत्र तीनों जगत में भर्त क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

भगवान् ऋषभदेव का पुत्र राजा भर्त चक्रवर्ती की नन्हीं को प्राप्त हुआ था और उसी के नाम से यह क्षेत्र गसार में भर्त क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इसी प्रकार नमोश्च लिखित प्रथम मण्ड पृ० १८६ में बताया है कि—

‘तत्तु भर्तु भर्तुव्याम चूडामणि, तस्मैव नामेण इहं भारहवास ति पद्व्युच्चति ।

भारतवर्ष के चूडामणि भर्तु हुए । उसी के नाम से यह भारतवर्ष कहलाता है ।

भारतवर्ष का नामकरण किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में जैन और हिन्दू पुराण दोनों एकमत हैं । जिस प्रकार जैन पुराणों में स्पष्ट मन्त्रों में ऋषभदेव के पुत्र भर्त के नाम पर भारत का नामकरण माना है, उसी प्रकार हिन्दू पुराणों में भी ऋषभदेव-पुत्र भर्त से ही उस देश का नामकरण स्वीकार किया है । हिन्दू और जैन परम्पराओं में इस सम्बन्धी एकमत्य में इस सम्बन्ध में मन्त्रों करने अथवा गन्तव्य सम्पन्न करने का कोई अन्तर नहीं रहता । यहाँ हिन्दू पुराणों के कुछ उद्धरण देना हम आवश्यक समझते हैं, जिससे उस विषय पर स्पष्ट प्रमाण पट सके ।

अग्नि पुराण हिन्दुओं का प्राचीन ग्रन्थ है । करने के, हमने नब्बो विषयों और विचारों का समावेश है । इसमें भरत और भारत के सम्बन्ध में एक स्थान पर उस प्रकार उल्लेख मिलता है—

‘जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।

नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिनादेशात् नान्वित ॥

ऋषभो मरुदेव्या च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

ऋषभोऽदात् श्रीपुत्रे शात्मप्राप्ते हर्षित गत ।

भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् । अध्याय १० श्लोक १०-१२

उस हिमवत् प्रदेश में जरा और मृत्यु का भय नहीं था, धर्म और अधर्म भी नहीं थे । उनमें समभाव था । वहाँ नाभिराज ने मरुदेवी से ऋषभ का जन्म हुआ । ऋषभ से भरत हुए । ऋषभ ने राज्यश्री भर्त को प्रदान कर सन्यास ले लिया । भरत ने इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । भरत के पुत्र का नाम सुमति था ।

आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज ।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताद्वरः ॥

सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महा प्राजाज्यमास्थित ।

तपस्तेषां महाभाग पुलहाश्रमसंश्रय ॥

हिमावहं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।

तस्मात् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥

मार्कण्डेय पुराण अ० ५०, श्लोक ३६-४२

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए जो अपने सौ भाइयों में अग्रज थे । ऋषभदेव ने पुत्र का राज्याभिषेक करके महाप्रव्रज्या धारण कर ली । इस महाभाग ने पुलह आश्रम में रहकर तप किया ।

ऋषभदेव ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश दिया था । उसी भरत महात्मा के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ ।

‘नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्या महावृत्तिः ।

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज ।
सोऽभिषिञ्च्याथ भरत पुत्र प्राज्ञाज्यमास्थित ॥५१॥
हिमाव्हय दक्षिण वर्ष, भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारत वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥५२॥

—वायु महापुराण पूर्वार्ध अध्याय ३३

(प्राय सभी पुराणों में समान पाठ है । अतः सबके अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है । अर्थ सुस्पष्ट है ।

‘नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्या महाद्युतिम् ॥५६॥
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज ॥६०॥
सोऽभिषिञ्च्यर्षभ पुत्र महाप्राज्ञाज्यमास्थित ।
हिमाव्ह दक्षिण वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥६१॥

नाम्ना ब्राह्मण्ड पुराण पूर्वार्ध, अनुपगपाद, अध्याय १४

‘नाभेर्मरुदेव्या पुत्रमजनयत् ऋषभनामान तस्य भरत पुत्रश्च तावदग्रजः । तस्य भरतस्य पिता ऋषभः
हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारत नाम शशास ।

—वाराह पुराण, अध्याय ७४

‘नाभेर्विसर्गं वक्ष्यामि हिमाकेस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्या महामति ॥१६॥
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्र शताग्रज ॥२०॥
सोऽभिषिञ्च्याथ ऋषभो भरत पुत्रवत्सल ।
ज्ञान-वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥२१॥
सर्वात्मनात्मन्यारथाप्य परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वातगतो हि स ॥२२॥
निराशस्त्यक्तसन्देह शैवमाप पर पदम् ॥
हिमाद्रेर्दक्षिण वर्ष भरताय न्यवेदयत् ॥२३॥
तस्मात् भारत वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ।

—लिंग पुराण, अध्याय ४७

‘हिमाव्हय तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युतिः ॥२७॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठ पुत्रशतस्य सः ।
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान् ॥२८॥
अभिषिञ्च्य सुत वीर भरत पृथिवीपति ।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रम ययौ ॥२९॥
ततश्च भारत वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम् ॥३२॥
सुमतिर्भरतस्याभूत्पुत्र परम धार्मिक ।

—विष्णु पुराण, द्वितीय अंश, अध्याय १

‘नाभे पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना विह वर्षं भारत चेति कीर्त्यते ॥५७॥

—स्कन्धपुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अ० ३७

‘आसीत् पुरा मुनि श्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः ।

आर्यभो यस्य नाम्नेवं भर्तव्यमुच्यते ॥५॥

—नारद पुराण, पूर्व खण्ड, अ० ४८

‘येषां सलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुण आसीद्येनैव वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।

—श्रीमद्भागवत १।४।६

‘अजनाभ नार्मतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ।

श्रीमद्भागवत १।६।३

तस्य पुत्रश्च वृषभो वृषभाद् भरतोऽभवत् ।

तस्य नाम्नात्विद वर्णं भारत चेति कीर्त्यते ॥

—शिवपुराण ३।७।५७

उम प्रकार हम देखते हैं कि जैन और हिन्दू नभो पुराण ऋषभदेव के पुत्र भरत ने अजनाभवर्ष अथवा हिमवत् क्षेत्र का नाम भारतवर्ष पड़ा, उम बात में मतभेद है ।

कुछ हिन्दू इतिहासकार उम गर्वमान्य तथ्य की उपेक्षा करके दीर्घान्ति भर्तु से भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा करते हैं । वे केवल आगवृष्य ही ऐसा करने हैं, उनके पास उमके लिये कोई पौराणिक या दूसरे प्रकार का साक्ष्य नहीं है । इतिहास के तथ्य मागहों ने गिद्ध नहीं किये जा सकते । दुष्यन्त-पुत्र भरत के चरित्र का वर्णन श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध में विस्तार में दिया गया है । उममें बताया है कि ‘भरत ने ममता के पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुत्रोहित बनाकर गंगातट पर गंगागागर में लेकर गङ्गाती पर्वन्त पंचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये । उमी प्रकार यमुना तट पर भी प्रयाग में लेकर यमुनातीरा तट अटहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये । भरत ने सत्ताईस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकदम शासन किया ।’ अन्त में वे गन्धार में उदानीन हो गये । इस सारे चरित्र में कहीं पर ऐसा एक भी शब्द नहीं आया, जिसमें यह ध्वनित होता हो कि उनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । जो लोग इतने स्पष्ट साक्ष्यों के बावजूद दुष्यन्त-पुत्र भरत से उम देश का नाम भारतवर्ष बताने का साहस करते हैं, उन्हें एक बात का उत्तर देना होगा । दुष्यन्त-पुत्र भरत चन्द्र वंश के शिरोमणि थे । उनमें पूर्व इक्ष्वाकु वंश, सूर्य वंश और चन्द्रवंश के हजारों राजाओं ने यहाँ शासन किया था । उन राजाओं के काल में इस देश का नाम क्या था और क्या ऋषभ-पुत्र भरत ने भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जोड़ने वाले ये सारे पुराण मिथ्या सिद्ध नहीं हो जायेंगे ? किन्तु यह तो किन्नी की भी अभीष्ट न होगा । अतः इस निर्विवाद तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि उस देश का नाम ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष पड़ा, न कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर ।

